अतीत से वर्तमान

राहुल सांकृत्यायन

प्रकाशक—
विद्यामन्दिर प्रेस (प्राइवेट) लि०
वाराणसी।

प्रकाशक
विद्यामन्दिर प्रेस (प्राइवेट) लि०
वाराणसी

प्रथम संस्करण ११००
सितम्बर १९५६
मुल्य तीन रुपया आठ आना

मुद्रक
खण्डेलवाल प्रेस
भेलूपुरा, वाराणसी।

प्रथम-खण्ड

चरित

घुमक्कड़राज नरेन्द्रयश

स्वात आज पश्चिमी पाकिस्तान की एक छोटी-सी रियासत है; लेकिन पश्चिमी हिमालय के भीतर यह वह सुन्दर इलाक़ा है, जिसे आर्यों ने इतना सुन्दर समझा और यहाँ पर इतने अच्छे घर बनाए कि इस इलाक़े का नाम ही उन्होंने 'सुवास्तु' (सुन्दर गृह) रख दिया, जो आज भी स्वात के रूप में मौजूद है। काबुल-नदी की बहन लुन्दई-नदी स्वात और पंचकोरा दो नदियों से मिल कर बनी है। दोनों नदियों के संगम पर छः हजार फीट ऊँचे पहाड़ खड़े हैं, जिनकी कोई-कोई चोटियाँ आठ हजार फीट तक पहुँचती हैं। यह बड़ा ही रमणीय स्थान है। पेशावर और आसपास के सूखे पहाड़ों को देख हम स्वात का अनुमान नहीं कर सकते। स्वात के पहाड़ अब भी देवदारों के जंगलों से ढँके हैं—उन्हीं जंगलों से, जिनकी लकड़ियाँ लेकर आर्यों ने भारत में प्रथम चरण रखते समय अपने सुन्दर वास्तु बनवाये थे। ईरान और अफ़ग़ानिस्तान के बहुत-से पहाड़ों को देखकर मेरी धारणा हो गई थी कि शायद स्वात का केवल नाम ही बड़ा हो और इसके पहाड़ भी वैसे नंगे हों। लेकिन सीमांत के गांधी खान अब्दुलगफ्फारखाँ ने मेरी इस धारणा को गलत बतलाया। वे तो स्वात की प्रशंसा करते नहीं थकते थे। कह रहे थे—'पेशावर और नीचे का दूध और स्वात का पानी गुण में बराबर हैं।' पेशावरी मेवों के हममें से कितने ही बहुत प्रशंसक हैं, लेकिन उस परम साधु के कथनानुसार 'स्वात के अंगूरों, सेबों और दूसरे मेवों के मुकाबले में सब फीके हैं।' स्वात अब पश्चिमी पाकिस्तान में है, भारत से मानो उसका कोई संबंध ही नहीं रह गया है। लेकिन अतीत में स्वात का भारत के साथ बहुत मधुर संबंध ही नहीं रहा है, बल्कि हर एक स्वाती अपने

भारतीय होने का अभिमान करता था; और भारत भी अपने स्वाती पुत्र पर फूला नहीं समाता था। शायद फिर वह आत्मीयता कभी कायम हो।

ऋग्वेद के काल में ईसा से दो सहस्राब्दियों पूर्व स्वात और पंचकोरा नदी के बीच की पर्वतभूमि का नाम सुवास्तु था। लेकिन ईस्वी सन् के आरम्भ में अब उसे उद्यान कहा जाने लगा था। यदि प्रथम आर्य उसके इन सुन्दर घरों पर मुग्ध होकर उसे सुवास्तु कहने लगे, तो अब खान अब्दुलगफ्फारखाँ के कहे अनुसार वहाँ के अमृत-तुल्य मेवों के बगीचों के कारण उसे लोग उद्यान कहने लगे। हो सकता है सुवास्तु का विशेषण 'उद्यान' रहा हो, किन्तु पीछे लोगों को बागों की यथार्थ महिमा देखकर उद्यान ज्यादा पसन्द आया। इसी उद्यान में घुमक्कड़राज नरेन्द्रयश का जन्म ५१८ ई० में हुआ था। वह कौन-सा ग्राम या नगर था, जहाँ नरेन्द्रयश ने पहले-पहल अपनी आँखें खोलीं या कौन-सा विहार (मठ) था, जहाँ पर उन्होने भिक्षु-दीक्षा ली, यह जानने के लिए हमारे पास साधन नहीं हैं। नरेन्द्रयश के जीवन की प्रगति के लिए यह जानना जरूरी है कि उस समय देश की राजनीतिक और आर्थिक अवस्था क्या थी। सांस्कृतिक अवस्था के बारे में तो इतना ही कहना काफी है कि यह गुप्तकाल के भव्य युग के उतार का समय था। चाहे सारी जनता की कम संख्या ही सही, किंतु साहित्य, संगीत और कला इस वक्त अपने चरम उत्कर्ष पर पहुँची हुई थीं। मध्यमंडल ही नहीं, बल्कि उसके पश्चिमोत्तरीय छोर पर भी हर जगह अद्भुत चित्रों और मूर्त्तियों से अलंकृत बड़े सुन्दर-सुन्दर विहार बने हुए थे, जहाँ बड़े-बड़े मनीषी विद्वान् विद्यार्थियों से घिरे अनवरत विद्या-दान करते रहते थे। एक ही शताब्दी पूर्व पेशावर ने असंग और वसुबंधु जैसे अद्वितीय दार्शनिक पैदा किए थे, जिनकी 'योगाचार भूमि' तथा 'अभिधर्मकोश' को पढ़कर सारा भारत ही नहीं, बल्कि सारा बौद्ध जगत् दर्शन के गहन विषयों के समझने की कोशिश कर रहा था।

नरेन्द्रयश जिस वक्त माँ की गोद में खेल रहे थे, उस समय जमुना और नर्मदा तक तोरमाण के पुत्र मिहिरकुल का साम्राज्य फैला हुआ था। मध्य-एशिया के इन विजेताओं को यद्यपि हूण या श्वेत-हूण कहा जाता था, लेकिन उनका (मंगोलियन) हूण-जाति से कोई सम्बन्ध नहीं था। वह तो शकों की सबसे पीछे आनेवाली एक शाखा थी। सिक्कों पर जो तोरमाण और मिहिरकुल के दाढ़ी से भरे या लम्बी नाकवाले चेहरे बने हैं, उनको देखने से भी पता लग जाता है कि यह मंगोलियन नहीं, बल्कि हिन्दू-यूरोपीय जाति के थे। मिहिरकुल के राज्य में ही उद्यान की भूमि थी। और जब नरेन्द्रयश नवें वर्ष में थे, तो यशोधर्मा और बालादित्य ने मिलकर मिहिरकुल को बुंदेलखंड की भूमि में बुरी तरह से हराया और उसे शायद पंजाब के भी बहुत-से भाग से वंचित होकर कश्मीर में भाग कर अपनी राजधानी बनानी पड़ी। उस समय भी उद्यान श्वेत-हूणों (हेफ्तालों) के हाथ में ही रहा। मिहिरकुल ५४७ ई० तक शासन करता रहा, जब कि नरेन्द्रयश की आयु २६ वर्ष की हो चुकी थी।

नरेन्द्रयश के बाल्यकाल में पंजाब, कश्मीर, अफगानिस्तान, मध्य-एशिया तक श्वेत-हूणों का राज्य फैला हुआ था। स्वात के उत्तर में गिल्गित के दरदों का प्रदेश था। सम्भव है स्वातवाले भी उस समय खसों की दरदशाखा से ही सम्बन्ध रखते हों। लेकिन दरदों से उत्तर-पूर्वी मध्य-एशिया में उस समय आज की तरह मंगोलियन जातियाँ नहीं, बल्कि तुखारी-कूची लोग बसते थे, जो रंग रूप में नरेन्द्रयश से इससे अधिक भेद नहीं रखते थे कि भारत में सबसे अधिक गौरांग उद्यान-निवासी भी उनके सामने साँवले पड़ जाते थे। नरेन्द्रयश के चौदहवें वर्ष में मालव-विजेता यशोधर्मा उत्तरी भारत का सबसे शक्तिशाली राजा बन चुका था। पूर्व-मध्य-एशिया के उत्तर में मंगोलियन अवारों का घुमन्तू साम्राज्य दूर तक फैला हुआ था, और जिनकी अधीनता स्वीकार करने के लिए कूची-तुखारी भी मजबूर थे। ईरान में यह समय साम्य-

वादी मज्दक का था, जिसका अनुयायी बनकर वहाँ के शाह कवाद को अपनी गद्दी से वंचित होना पड़ा था, और शायद मिहिरकुल के पिता तोरमाण की ही सहायता से उसे फिर सासानियों की गद्दी मिली। इस समय सारा सासानी-साम्राज्य मज्दक की साम्यवादी विचारधारा के व्यावहारिक परीक्षण से क्षुब्ध या आह्लादित था, लेकिन एक लाख नर-नारियों का नरमेध करके साम्यवाद के भूत से पिंड छुड़ाने में नौशिरवान को जब सफलता मिली, उस समय (५२६ ई०) तक नरेन्द्रयश ग्यारह वर्ष का हो चुका था। कहा नहीं जा सकता कि जिस बौद्ध संघ में नरेन्द्रयश दीक्षित हुआ, उसी के कितने ही अंशों से प्रभावित हो उसके पूर्वाचार्य मानी ने साम्यवाद की कितनी ही बातों को स्वीकार किया, और उसे साधुओं की छोटी-सी टोली के भीतर तक ही सीमित न रख मज्दक के विशाल जन-समुदाय में आर्थिक समता को व्यावहारिक रूप देने लगा था। पता नहीं, उसका कोई प्रभाव नरेन्द्रयश की मातृभूमि के विहारों पर भी कुछ था या नहीं। अर्द्ध-घुमन्तू श्वेत हूणों की राज्य-सीमा से सासानी-ईरान बहुत दूर था, जहाँ पर आज से डेढ़ हजार वर्ष पहले यह प्रयोग हो रहा था। नरेन्द्रयश के बाल्यकाल (५१८-५३०) में कम-से-कम उद्यान-भूमि के लिए युद्धों द्वारा आर्थिक सकट का सामना नहीं करना पड़ा था। उद्यान की भूमि सदा शस्य श्यामला और धन-धान्य-संपन्न रहती आई थी; संभवतः वही स्थिति उसकी अब भी थी।

नरेन्द्रयश क्षत्रिय-कुल में पैदा हुए थे, जिसका अर्थ यही हो सकता था कि वह खसों-शकों के कुल में पैदा हुए थे। खस और शक मूलतः मध्य-एशिया की एक ही जाति की दो धाराएँ थीं, जिनमें से खस ई० पू० दूसरी सहस्राब्दी में मध्य-एशिया से पहाड़-पहाड़ आकर इस वक्त तक सारे पश्चिमी और मध्य-हिमालय में छा गए थे, जब कि शक ई० पू० द्वितीय शताब्दी में हूणों के प्रहार से अपनी मूलभूमि छोड़ भागते हुए भारत तक पहुँचे थे। उनके प्रतापी राजा कदफिस और

कनिष्क का साम्राज्य बंगाल की खाड़ी से अराल-समुद्र तक फैला था। शक और खस दोनो ही अपने को क्षत्रिय कहते थे, इसलिए नरेन्द्रयश इनमे से किनके वंश में पैदा हुए, यह नहीं कहा जा सकता। चाहे वैदिक आर्यों के वंशज क्षत्रिय सुवास्तु-भूमि (उद्यान) में रहे हों या उनके बाद खस तथा शक वहाँ पहुँचे हों; लेकिन नरेन्द्रयश के समय तक वह सब मिलकर क्षत्रिय नाम से पुकारे जाते थे और उनका पारस्परिक विवाह-सबंध भी होता था।

नरेन्द्रयश की जीवनी के बारे में जो थोड़ा-सा ज्ञान हमें चीनी स्रोतो से मिलता है, उसमे उनकी पंडिताई और घुमक्कड़ी की ही बातें अधिक हैं। चीनी स्रोतों से उनकी जीवनी पर नोट लिखते मेरे मित्र डा० पा-चौ का कहना है—"नरेन्द्रयश उद्यान के एक क्षत्रिय-परिवार में पैदा हुए थे (सन् ५१८ ई० में)। सत्रह वर्ष की आयु (५३५ ई०) में वे श्रामणेर (साधु) हो गए और इक्कीस वर्ष के होने पर (५३६ ई०) बौद्ध संघ में उपसंपदा प्राप्तकर भिक्षु बने। अपने भिक्षु-जीवन के आरंभ ही से उनकी उन पवित्र स्थानों के दर्शन करने की बड़ी इच्छा थी, जहाँ पर बुद्ध-संबंधित पवित्र वस्तुएँ (अस्थि, पात्र, चीवर आदि) रखी हुई थीं। वे ऐसे बहुत से स्थानों में गए। दक्षिण में वे सिंहल (लंका) तक गए और उत्तर में हिमालय के भी उस पार बहुत दूर तक। एक बार एक स्थविर (वृद्ध भिक्षु) ने उन्हें कहा कि अगर चुपचाप तुम शील का अनुष्ठान करते रहो, तो तुम्हें आर्यफल (मुक्ति) प्राप्त होगा, नहीं तो जगह-जगह का भटकना बेकार जायगा। लेकिन नरेन्द्रयश ने स्थविर के उपदेश पर कान नहीं दिया। सिंहल लौटने के बाद नरेन्द्रयश कुछ समय तक उद्यान में रहे। इसी समय उनका विहार जंगल की आग से जल गया। संभवतः विहार के पुनर्निर्माण के लिए अर्थ-संग्रह ही उनका लक्ष्य था जब कि पाँच और भिक्षुओं के साथ उन्होंने हिमालय के उत्तर की ओर प्रयाण किया। हिमालय के एक डाँड़े पर पहुँचने पर

वहाँ से दो रास्ते फूटते थे, जिनमें से एक मनुष्यपथ था और दूसरा दैत्य-पथ। नरेन्द्रयश को यह देखकर बड़ी घबराहट हुई कि एक साथी दैत्य-पथ पर चला गया। वे उसे बचाने के लिए दौड़े, लेकिन तब तक वह दैत्य के मुँह में पड़ चुका था। कहा जाता है कि मंत्र पढ़कर नरेन्द्रयश ने अपने साथी की जान बचाई। आगे जाने पर एक जगह नरेन्द्रयश डाकुओं से घिर गए, वहाँ पर भी मंत्रों ने उनकी रक्षा की। हिमालय पार हो पूर्व की तरफ अग्रसर होते-होते वे उस भूमि में गए जहाँ जुइ-जुइ (ज्वेन-ज्वेन अर्थात् अवार) रहते थे। जल्दी ही उनकी जगह लेनेवाले तथा पहले उनकी प्रजा तुर्क उस समय जुइ-जुइ से लड़ रहे थे। अवारों और तुर्कों के इस संघर्ष के कारण पूर्व की ओर जानेवाला रास्ता खतरे से भरा था। नरेन्द्रयश उद्यान की ओर पीछे पैर रखनेवाले नहीं थे, इसलिए वे उत्तर की तरफ बढ़ गए। तुर्कों की भूमि से सात हजार ली (चौदह सौ मील, जाने पर वे नी-हाई) सागर के तट (जिसे विद्वान् वर्त्तमान बैकाल सरोवर मानते हैं) पर पहुँचे। वहाँ पर लड़ाई-झगड़े ही ज्यादा देखने में आए, इसलिए उन्होंने नी-हाई की भूमि को छोड़कर चीन का रास्ता लिया और ५५८ ई० में उत्तरी छी-वंश (५५०-७७) की राजधानी येह (होणान्) पहुँचे। उस समय नरेन्द्रयश की आयु चालीस वर्ष की थी। सम्राट् वेन्-स्वेन् (५५०-५६ ई०) ने नरेन्द्रयश का खूब स्वागत किया और राजधानी के बड़े विहार त्यान्-पिङ् में उनके लिए सुन्दर वासस्थान और सुन्दर भोजन का प्रबंध कर दिया। राजप्रासाद में संस्कृत के बहुत से हस्तलिखित ग्रंथ थे। सम्राट् ने उन्हें नरेन्द्रयश के पास अनुवाद करने के लिए भेज दिया और चीन के बौद्ध विद्वानों को अनुवाद के काम में नरेन्द्रयश की सहायता करने के लिए कह दिया। दूसरे कामों से छुट्टी पाने पर नरेन्द्रयश पहले के सीखे मंत्रों का जप किया करते थे। थोड़े ही दिनों बाद नरेन्द्रयश को सम्राट् ने सारे बौद्ध संघ के उपसंघराज का पद प्रदान किया और

पीछे संघराज बना दिया। नरेन्द्रयश के पास अब बहुत धन आता था, जिसका बहुत-सा भाग वे भिक्षुओं, गरीबों, कैदियों आदि को भोजन कराने में खर्च करते। उनकी उदारता के भागी पशु-पक्षी भी होते थे। उन्होंने लोगों के लिए बहुत-से कुएँ खुदवाए, जिनसे वे अपने हाथ से पानी निकालकर प्यासों को पिलाते थे। उन्होंने रोगियों के लिए धर्मार्थ चिकित्सालय स्थापित किए, जिनमें रोगियों के लिए हर एक आवश्यक चीज मुफ्त दी जाती थी। ची-चुन् में पश्चिमी पहाड़ के ऊपर उन्होंने तीन विहार बनवाए। वे उन होटलों में भी जाते, जिनमें तुर्क घुमन्तू आकर ठहरते थे। उन्हें वे समझाते थे कि महीने में कम-से-कम छः दिन तुम निरामिष-भोजी बनो और खाने के लिए बकरियों को न मारो। इस तरह का धार्मिक अनुष्ठान नरेन्द्रयश के जीवन का एक अंग था। एक बार नरेन्द्रयश बीमार पड़े, तो उन्हें देखने के लिए सम्राट् और सम्राज्ञी स्वयं आए। इस तरह का सम्मान-प्रदर्शन बहुत थोड़ों ही को मिलता था। ५७७ ई० के अन्त में उत्तरी छी-राजवंश को उत्तरी चाउ-राजवंश (५५७-८१ ई०) ने जीत लिया। सम्राट् वू-ती ताउ-धर्म का अनुयायी था। उसने ५७२ ई० में चीन से बौद्ध धर्म और संघ के उच्छेद करने का निश्चय कर लिया और बहुत-से भिक्षुओं को मरवा दिया। ऐसी परिस्थिति में नरेन्द्रयश को अपने चीवर के ऊपर गृहस्थों के वस्त्र डालकर जगह-जगह मारा-मारा फिरना पड़ा। नौ वर्षों तक नरेन्द्र-यश को बड़े कठोर जीवन का सामना करना पड़ा, जिसका अन्त सुइ-राजवंश (५८१-६१८ ई०) की स्थापना के साथ ५८१ ई० में हुआ। नए राजवंश के शासन के आरम्भ होते ही सम्राट् वेन्-तीने नरेन्द्रयश को बौद्ध सूत्रों के अनुवाद करने के लिए राजधानी में निमन्त्रित किया। इसके बाद सम्राट् ने उन्हें भिक्षुओं के 'आतिथ्यपाल' का पद प्रदान किया। नरेन्द्रयश ने इस काम को इतनी अच्छी तरह से पूरा किया कि सभी उनसे बहुत संतुष्ट रहे। नरेन्द्रयश ने ८० जिल्दों के पन्द्रह ग्रन्थों

का संस्कृत से चीनी भाषा में अनुवाद किया। अपनी आयु के चालीस वर्ष उन्होंने यात्रा में बिताए, जिसमें डेढ़ लाख ली (३० हजार मील) की यात्रा करते पचास देशों को देखा। वे ५८६ ई० में मरे।"

चीनी स्रोतों से हमें नरेन्द्रयश का इतना ही परिचय मिलता है। देखते हैं कि चीन के निवास के समय (५५८-७२ ई० और ५८१-८६ ई०) को छोड़कर उन्होंने इक्कीस वर्ष के बाद का अपना सारा जीवन यात्रा में ही बिताया। वे भारत के सभी बौद्ध तीर्थों में गए। सर्वास्तिवादियों के गढ़ मथुरा को उन्होंने देखा ही होगा, श्रावस्ती-जेतवन-लुम्बिनी, ऋषिपतन-सारनाथ (बनारस), (बज्रासन बौद्ध गया) आदि के दर्शन से वे अपने को कैसे वंचित रख सकते थे ? भारत और सिंहल के उन पवित्र स्थानों को नरेन्द्रयश ने जरूर ही देखा होगा, जिनकी यात्रा एक शताब्दी पहले चीनी पर्यटक फा-शीन (फा-हियान्) कर चुका था। सिंहल में वह महाविहार या अभयगिरि-विहार में भी रहे होंगे। उनकी भारत की यह सारी यात्रा केवल यात्रा के तौर पर ही नहीं हुई होगी, बल्कि यहीं पर उन्हें बड़े-बड़े विद्वानों के सम्पर्क में आकर अपने ज्ञान-कोश को बढ़ाने का भी सौभाग्य प्राप्त हुआ होगा। सिंहल जाते या लौटते समय उन्होंने श्रीपर्वत नागार्जुनीकोंडा, धान्यकटक के भव्य स्तूपों और संघारामों के भी दर्शन किए होंगे। अजिठा (अजन्ता) के गुहाविहार यद्यपि अभी सभी पूरे तैयार नहीं हुए होंगे, लेकिन तब भी विदर्भ का यह संघाराम वाकाटकों के उत्तराधिकारियों के शासन काल में एक महत्त्वपूर्ण स्थान रखता था, इसमें सन्देह नहीं। नरेन्द्रयश उज्जयिनी में भारत के सबसे विशाल स्तूप का दर्शन करने भी गये होंगे। विदिशा के भव्य स्तूप-तोरणों को उन्होने देखा होगा, जो कि आजकल साँची के स्तूपों के नाम से प्रसिद्ध हैं। फिर गोपगिरि (ग्वालियर), मथुरा आदि होते हुए वे अपनी जन्मभूमि उद्यान में लौटे होंगे।

यह नहीं कहा जा सकता कि मातृभूमि छोड़ने के बाद उनकी यह

भारत-लंका की तीर्थयात्रा और विद्यायात्रा कितने दिनों में पूरी हुई, तो भी यथार्थता से बहुत दूर नहीं होगा यदि हम मानें कि भिक्षु बनने के एक साल बाद ५४० ई० में उन्होंने अपनी जन्मभूमि छोड़ी होगी। दस वर्षों तक भारत की प्रदक्षिणा करके वे ५५० ई० के आसपास उद्यान लौटे होंगे। साल-भर बाद विहार के जल जाने पर वे हिमालय पारकर उत्तर की ओर चले गए होंगे। छठी शताब्दी के मध्य में तुर्कों ने अपने पूर्व स्वामियों अवारों पर विजय प्राप्त की और अवार-ओर्दू (घुमन्तू सैनिक परिवार) तुर्कों से प्राण बचाने के लिए पश्चिम की ओर भागते-भागते अन्त में हुंगरी पहुँचे होंगे। इन्हीं तुर्कों ने पश्चिमी मध्य-एशिया से श्वेत-हूणों (हेफ्तालों) के राज्य को खत्म किया। इसी संघर्ष के समय नरेन्द्रयश हिमालय के दुर्गम डॉड़ों को पारकर खोतन, यारकन्द, काशगर और कूचा की ओर गए होंगे। सीमांत पर होने पर भी यह प्रदेश अभी युद्ध की लपटों में नहीं पड़े थे। नरेन्द्रयश को कूचा से आगे बढ़ने पर तुरफान में ही कहीं चीन की ओर जाने का रास्ता बन्द मिला होगा। पूर्व के रास्ते को न पाकर उन्होंने तुरफान या कराशर के पास ही से कहीं उत्तर का रास्ता पकड़ा होगा और हामी के आसपास से घुमन्तुओं की भूमि में कितने ही बियाबानों, पहाड़ों में से होते वर्त्तमान मंगोलिया के पश्चिमी भाग से साइबेरिया की ओर बढ़ते नी-हाई (बैकाल) सरोवर के तट तक पहुँचे होंगे। अभी इस शताब्दी के डेढ़ दर्जन वर्षों तक भी हामी से आगे उसी तरह के घुमन्तू बसते थे, जिनके तम्बुओं के भीतर नरेन्द्रयश ने अपनी बहुत-सी रातें बिताई होंगी। इन घुमन्तुओं के लिए अभी हाल तक अन्न दुर्लभ खाद्य था और दूध तथा मांस ही सबसे सुलभ तथा शरीर-धारण के आवश्यक साधन थे। नहीं कह सकते कि नरेन्द्रयश किस तरह गुजारा करते थे। बौद्ध भिक्षु मांस खा सकता है— केवल अपने लिए मारे गए पशु का मांस उसके लिये अभक्ष्य है। नरेन्द्रयश शायद अभी भारतीय भिक्षुओं की परम्परा को मानते मांस-भक्षण के

विरोधी नहीं थे। उनकी दुर्गम यात्रा भी इस बात की माँग करती थी कि भोजन में नाहक की कट्टरपंथिता न दिखलाएँ। शायद चीन की राजधानी में जा संघराज के पद पर पहुँच कर उन्होंने निरामिषाहार पर अधिक ज़ोर देना शुरू किया। आमिष (मांस) स्वीकार कर लेने पर भोजन की ओर से उनको कोई चिन्ता नहीं हो सकती थी। इस भूमि में हिमालय के पार तुरफ़ान के उत्तर साइबेरिया तक जो घुमन्तू रहा करते थे, वे सभी मंगोलायिन थे; लेकिन 'मंगोल' शब्द अभी दुनिया में अस्तित्व नहीं रखता था। अवार, तुर्क, उइगुर, मंगोल सभी पुराने हूणों के वंशज थे, जिनकी ही भूमि में तुरफ़ान छोड़ने के बाद नरेन्द्रयश को प्रवेश करना पड़ा। हूण-सामन्त बौद्ध धर्म के प्रभाव में आ चुके थे, वही बात अवारों और तुर्कों की भी थी। इसलिए आजकल के तिब्बती लोगों की तरह तुर्कों में भी ऐसे बौद्ध भक्तों की कमी नहीं थी, जो भारतीय भिक्षु का आतिथ्य करने के लिए तैयार थे।

भारत की नाना जातियों और भिन्न भिन्न बोलियों से नरेन्द्रयश का सम्पर्क हुआ होगा, लेकिन यहाँ संस्कृत उनकी सहायता करती रही होगी। सिंहल में भी भाषा की कोई दिक्कत नहीं आई होगी। खोतन, यारकन्द, काशगर, कूचा और तुरफ़ान तक अभी संस्कृत का साम्राज्य था और अनुराधपुर (लंका) से तुरफ़ान तक भिक्षु-संघारामों के आचार-विचार, वेष-भूषा में बहुत समानता थी, इसलिए वहाँ तक नरेन्द्रयश को पराया देश मालूम नहीं हुआ होगा। लेकिन काली चमरियों या ऊँटों के बालों के बने तम्बुओं और नम्दों की भूमि में पहुँचते ही नरेन्द्रयश को एक दूसरी ही दुनिया दिखाई पड़ी होगी, जहाँ की बोली-वाणी आचार-व्यवहार आदि सभी भिन्न थे। जहाँ के लोग भूख-प्यास को मिटाने के लिए अपने घोड़े की नस में छेद करके मुँह लगा निस्संकोच रक्त-पान कर सकते थे। जहाँ वर्षों शरीर पर पानी डालने की आवश्यकता नहीं समझी जाती थी। फल और अन्न के अभाव के कारण जहाँ

के लोगों का जीवन सीधे हिंसा पर निर्भर था। वे जिस तरह निस्संकोच प्राणियों को मारकर उनके मांस का उपयोग करते थे, उसी तरह एक क़बीला दूसरे कबीले को लूटने-मारने के लिए भी तैयार रहता था। तुरफान के सीमांत पर पहुँचने के बाद नरेन्द्रयश उनकी अवस्था से बिल्कुल अपरिचित नहीं रह सकते थे। इसलिए पूर्व में चीन और दक्षिण में स्वदेश लौटने का रास्ता छोड़ यदि वे उत्तर में घुमन्तुओं की भूमि पर बढ़े, तो जान-बूझकर ही। ५५३-५४ ई० के आस-पास नरेन्द्र-यश ने उत्तर का रास्ता लिया होगा। घुमन्तुओं में पाँच साल बिताने की हिम्मत करना यह भी उनके साहस का सबूत है।

नरेन्द्रयश ५५७ ई० में चीन की राजधानी येह (होणान्) में इस विकट यात्रा के बाद लौटे। उन्होंने लंका से बैकाल तक की इस विशाल यात्रा में कितने विचित्र अनुभव किए होंगे, कितने पहाड़ों, जंगलों, नदियों, सरोवरों, समुद्रों और रेगिस्तानों को देखा होगा, कितने ही भिन्न-भिन्न तरह के लोगों के सम्पर्क में आए होंगे। नरेन्द्रयश की यात्रा के सामने क्या फा-शीन और स्वेन-चाङ् की यात्राएँ फीकी नहीं पड़ जातीं? लेकिन अफ़सोस, उन्होंने अपनी इस बीहड़ यात्रा का कोई विवरण नहीं छोड़ा। उनसे एक शताब्दी पहले फा-शीन् ने अपनी यात्रा का सुन्दर वर्णन लिखा, जिसे नरेन्द्रयश ने जरूर देखा होगा। लेकिन उन्हें अपनी अद्भुत यात्रा का विवरण लिखने की प्रेरणा नहीं हुई। नरेन्द्रयश पण्डित थे। उन्होंने 'सूर्यगर्भसूत्र', 'मंजुश्रीविक्रीड़ितसूत्र', 'श्रीगुप्तसूत्र', 'महामेघसूत्र', 'बलव्यूहसमाधिसूत्र', 'बुद्धशतनामसूत्र', पद्ममुखसूत्र', तथा 'स्थिरमति-सूत्र' जैसे गम्भीर बौद्ध सूत्रों का चीनी भाषा में अनुवाद किया। वे अपनी यात्रा को बोलकर आसानी से चीनी में भी लिखवाकर सुरक्षित कर सकते थे, किन्तु अफ़सोस कि वे वैसा न कर सके।

नरेन्द्रयश पहले येह् (होणान्) राजधानी में रहे, फिर राजधानी छङ्-अन् ने उनका स्वागत किया। बौद्धों पर अत्याचार होते समय नौ

वर्ष (५७२-८१ ई०) तक उन्हें अज्ञातवास करना पड़ा, और ५८१ ई० में सुइ-वंश की स्थापना के बाद फिर उन्हें सम्मानपूर्वक राजधानी छुङ्-अन् में रहने का मौका मिला। यह स्मरण रखने की बात है कि शताब्दियों तक छिन्न-भिन्न रहने के बाद इसी सुइ-वंश ने सारे चीन को एकताबद्ध किया। यद्यपि उसका शासनकाल बहुत अधिक नहीं रहा और ६१८ ई० में उसका स्थान प्रतापी थाङ्-वंश ने ले लिया, लेकिन जैसा निर्माण-कार्य सुइ वंश ने किया, वैसा पन्द्रह शताब्दियों बाद आज ही चीन में फिर हो रहा है। सुइ-वंश के शासन-काल में आठ वर्ष तक फिर नरेन्द्रयश को काम करने का अवसर मिला। नरेन्द्रयश के समय चीन में और भी कितने ही भारतीय पण्डित अनुवाद का काम कर रहे थे, जिनमें उपशून्य, परमार्थ, मन्द्रसेन, ज्ञानभद्र, जिनयश (५२२-६०० ई०), यशोगुप्त (५६१-७८ ई०), जिनगुप्त, गौतमधर्मप्रज्ञ, विनीतरुचि, ज्ञानगुप्त (मृत्यु ६०० ई०) और धर्मगुप्त (मृत्यु ६१६ ई०) मुख्य थे। नरेन्द्रयश के समकालीन परमार्थ उन बड़े भारतीय पण्डितों में से हैं, जिन्होंने अनेक संस्कृत ग्रन्थों का चीनी भाषा में अनुवाद किया। परमार्थ उज्जैन में ४६८ ई० में पैदा हुए थे—अर्थात् आयु में वे नरेन्द्रयश से बीस वर्ष बड़े थे और ५६६ ई० में नरेन्द्रयश से बीस वर्ष पहले ही वे चीन में मरे। नरेन्द्रयश के अनूदित ग्रन्थों में आठ आज भी मौजूद है। परमार्थके अनूदित ३८ ग्रन्थों में से उन्तीस अब भी सुरक्षित हैं। परमार्थ की तुलना में नरेन्द्रयश उतने बड़े अनुवादक नहीं सिद्ध होते, लेकिन वे घुमक्कड़ों के राजा थे, इसमें तो तनिक भी सन्देह नहीं।

कम्बोज में भारतीय घुमक्कड़ भट्ट दिवाकर

इन्डो-चीन के तीन राज्यों में कम्बुज (कम्बोडिया) भी एक है, जिसके राजा नरोत्तम ने फ्रेंच साम्राज्यवाद की नीति से तंग आकर अभी-अभी देश छोड़ सारी दुनिया का ध्यान कम्बुज की ओर आकृष्ट किया है। आज कम्बुज एक छोटा-सा देश है, जो आजादी और लम्बाई-चौड़ाई में हमारे देश के एक छोटे-से जिले के बराबर है, लेकिन ७ वीं से १० वीं शताब्दी तक वह एक विशाल राज्य था, जिसमें आधुनिक इन्डो-चीन और स्याम (थाई-भूमि) ही नहीं, बल्कि मलाया भी सम्मिलित था। राजवैभव के साथ-साथ कम्बुज का सांस्कृतिक वैभव भी अपने मध्यान्ह पर था, जिसके चिन्हस्वरूप अंकोरवात, अंकोरथोम की महान् इमारतें अब भी वहाँ मौजूद हैं। उस समय के कम्बुज में अगर कोई जाता, तो उसे वह भारत का ही एक खण्ड दिखाई पड़ता। वही शैव (पाशुपत) धर्म वहाँ भी उस समय सर्वत्रव्यापी था, जो कि उस समय के उत्तरी तथा दक्षिणी भारत में व्याप्त था। वहाँ के लोग भी संस्कृत में अपनी प्रशस्तियाँ लिखते और देवाधिदेव महादेव की प्रशंसा करते हुए कहते--"उमा के कोख से नियंत्रित तरंगा गंगा जिसके सिर की माला बनी, उस चन्द्रशेखर की जय हो!" ६१६ ई० में कम्बुज दरबार में आए चीनी दूतमण्डल ने लिखा था-"राजा सप्तरत्नमंडित पंचविध-गंधसुगंधित आसन पर बैठता है, गजदंत तथा सुवर्णपुष्प द्वारा मंडित बहुमूल्य दारुस्तम्भों पर तना चँदवा उसके ऊपर होता है। सिंहासन के दोनों तरफ एक-एक आदमी धूप जलाने की धूपदानी लेकर चलता है। राजा गोटेदार पाण्डुवर्ण रेशम का कपड़ा पहनता है, बहुमूल्य मणियों और मोतियों से

अलंकृत मुकुट धारण करता है और उसके कानों में स्त्रियों की भाँति सोने का कुण्डल होता है। उसके जूतों पर भी हाथी दाँत का काम होता है।"

कम्बुज राजाओं की प्रशस्तियाँ बिल्कुल समकालीन भारतीय राजाओं जैसी थीं। हर्षवर्द्धन शीलादित्य की मृत्यु के दो ही दशाब्दियों बाद ६६७ ई० (५८६ शताब्द) में राजवैद्य सिंहदत्त ने अपने अभिलेख को सुन्दर संस्कृत में लिखवाते हुए कहा है :

"त्रिविक्रम (विष्णु की भाँति अजेय राजा रुद्रवर्मा था, जिसका सुखमय शासन आज भी दिलीप की भाँति स्मरण किया जाता है। उसकी सेवा में ज्येष्ठ ब्रह्मदत्त और कनिष्ठ ब्रह्मसिंह दो भाई अश्विनीकुमारों की भाँति प्रधान वैद्य थे। इन दोनों में धर्मदेव ज्येष्ठ और सिंहदेव कनिष्ठ दो सौभाग्यशाली भागिनेय थे। राजा भववर्मा ने अपनी शक्ति से राज्य को ले लिया, उसके···ये दोनों मंत्री थे।"

नवीं शताब्दी के चीनी लेखकों ने कम्बुज के आदमियों के बारे में लिखा है : "आदमी कद में छोटे और काले रंग के होते हैं, लेकिन स्त्रियों में साफ रंग की भी कोई-कोई होती हैं। लोग अपने बालों का जूड़ा बाँधते हैं और कानों में कुण्डल पहनते हैं। वह दृढ़ और कर्मठ होते हैं। उनके घर और घर के असबाब स्याम जैसे होते हैं। वह दाहिने हाथ को शुद्ध और बायें को अशुद्ध समझते हैं। वह प्रति दिन सबेरे नहाते और वृक्ष की लकड़ी की दातुन से दाँत साफ़ करते हैं। पोथी पढ़ने के बाद वह प्रार्थना करते हैं और फिर नहाते हैं, तब भोजन ग्रहण करते हैं। भोजन के बाद वह फिर अपने दाँत धोते और एक बार और प्रार्थना करते हैं। अपने भोजन के लिये वह घी, मलाई, चीनी, चावल और बाजरा--जिसकी वह रोटी बनाते हैं--का इस्तेमाल करते हैं। विवाह में वह कन्या के पास सिर्फ एक परिधान ब्याह की भेंट के तौर पर भेजते हैं। तिथि निश्चित हो जाने पर घटक वधू के पास जाता है। वर-वधू के परिवार सप्ताह-भर बाहर नहीं निकलते। रात-दिन दीपक

जलता रहता है। विवाह संस्कार हो जाने पर पति, परिवार की सम्पत्ति में से अपना भाग ले अलग घर में रहने लगता है। सम्बन्धियों के मरने पर जो बचा रहता है, वह सम्पत्ति उसे मिलती है, अन्यथा वह सरकारी कोष में चली जाती है। मरने का सूतक मनाते हैं—बिना खाये, बिना बाल कटाये, सात दिन तक स्त्री-पुरुष रोते-कलपते हैं। बौद्ध भिक्षुओं और ब्राह्मण (ताव) पुरोहितों के साथ सम्बन्धी एकत्रित हो बाजे के साथ गान करते जलूस निकालते हैं। सुगंधित लकड़ी की चिता पर शव को फूँक दिया जाता है और चिता की राख सोने या चाँदी की डिबिया में रखी जाती है, जिसे नदी के बीच में फेंक दिया जाता है। गरीब लोग चित्रित तथा नाना प्रकार से अलंकृत मिट्टी की डिबियां काम में लाते हैं। कभी कभी शव को जीवों के खाने के लिये पहाड़ पर भी रख दिया जाता है।"

उपर्युक्त वर्णन से मालूम होगा कि कम्बुज केवल नाम में ही भारतीय (कम्बोज) नहीं था, बल्कि अपनी संस्कृति में भी भारत का एक अंग था। उस समय वर्णाश्रम धर्म भारत की तरह ही वहाँ भी छाया हुआ था। लेकिन, आगे चलकर कम्बुज लोगों ने वर्णाश्रम-पक्षपाती धर्म को छोड़कर बौद्ध धर्म को स्वीकार किया, जो कि अब भी वहाँ का जातीय धर्म है, लेकिन शैवों या हिन्दुओं का उच्छेद अब भी नहीं हो सका है।

उस समय के कम्बोज में भारतीय सांस्कृतिक दूतों और विद्वानों का जाना-आना बराबर होता रहता था। १० वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में कम्बुज में राजेन्द्र वर्मा (मृत्यु ९६८ ई०) का शासन था, जो कि कन्नोज के प्रतिहार राजा विजयपाल (९६०-१०१८ ई०) का समकालीन था, जिसके राज्य में प्रायः सारा उत्तरी भारत था। इसी समय मथुरा भी उसके अधीन एक प्रसिद्ध नगरी थी। भट्ट दिवाकर ने स्वयं मथुरा के बारे में लिखा है—"जहाँ सुन्दर कालिन्दी (यमुना) प्रवाहित होती है, छत्तीस हज़ार ब्राह्मणों द्वारा तीनों शाम गाये जाते ऋक्, यजु और साम की

मंत्रध्वनि से जहाँ की सारी भूमि प्रतिध्वनित होती है, जहाँ कृष्ण ने कालिनाग का मर्दन किया, दैत्यों को मारा और बचपन में बालक्रीड़ा की, वहीं यह भट्ट दिवाकर पैदा हुए।" इससे मालूम होगा, कि मथुरा १० वीं शताब्दी में कृष्ण की जन्मभूमि के नाते पवित्र और प्रसिद्ध हो चुकी थी। दिवाकर शायद मथुरा के चौबे रहे हों, क्योंकि छत्तीस हजार की भारी संख्या में रहनेवाले वहाँ के ब्राह्मण आज के मथुरिया चौबों के पूर्वज ही हो सकते थे। भट्ट दिवाकर लेकिन अपने आज के वंशजों से कहीं अधिक उदार थे और कूपमंडूकता की जगह घुमक्कड़ी उन्हें ज्यादा पसन्द थी। १० वीं शताब्दी का आधा बीत चुका था, जब कि दिवाकर ने अपनी प्रिय जन्मभूमि से विदाई ली। वह विद्वान् थे। कम्बुज में उस समय संस्कृत विद्वानों की कदर बड़ी थी। लोग भारत के संस्कृत कवियों के काव्यों का आनन्द लेते थे। पाणिनि-व्याकरण वहाँ बड़े चाव से पढ़ा जाता था। संस्कृत के प्रति वहाँ के सामन्त और पुरोहित वर्ग का वैसा ही अनुराग था, जैसा आज के कम्बुजवासियों का पालि के प्रति। भट्ट दिवाकर स्थल और जल-मार्ग से नाना देशों का पर्यटन करते, अभी तरुण ही थे, जब कि राजेन्द्रवर्मा के शासनकाल में कम्बुज पहुँचे। राजेन्द्रवर्मा के पुत्र जयवर्मा पंचम के बारे में कहा जाता है, कि उसने "वर्णों और आश्रमों को दृढ़ आधार पर स्थापित करके भगवान् को प्रसन्न किया।" किन्तु "इस प्रसिद्ध राजा की कनिष्ठ भगिनी राजेन्द्र वर्मा की कन्या इन्द्रलक्ष्मी एक प्रख्यात ब्राह्मण (दिवाकर) की पत्नी थी, जिसने ८६० शकाब्द (९६८ ई०) में प्रेम के साथ अपनी माँ की मूर्ति स्थापित की। भूपाल राजेन्द्रवर्मा के जामाता और राजा जयवर्मा के भगिनी-पति देवभट्ट दिवाकर थे, जिन्होंने मधुवन में तीन देवता स्थापित करके भद्रेश्वर के रूप में उनकी प्रतिष्ठा की। भद्रेश्वर को सुवर्ण और दूसरे बहुमूल्य रत्नों के एक यान, अद्‌भुत रत्न-आभूषण के साथ बहुत सी भूमि, ताँबा, चाँदी, सोना, गाय, दास-दासी, भैंस, घोड़े, हाथियों को प्रदान किया।"

देव दिवाकर ने स्वयं आज्ञा दी, कि इस स्थान पर आनेवालों के भोजन के लिये प्रतिवर्ष ६ खारी चावल दिया जाए।"

इस प्रकार मालूम होगा, कि देवभट्ट दिवाकर अपना पर्यटक-जीवन समाप्त करने के बाद एक वैभवशाली सामन्त-पुरोहित के रूप में कम्बुज में बस गये। और शायद उनकी सन्तानें भी कम्बुज राजाओं की अगली पीढ़ियों में राजपुरोहित तथा वैवाहिक-सम्बन्ध से राजवंश के साथ सम्बन्धित रहीं। यह स्पष्ट ही है कि कम्बुज में जहाँ तक रोटी-बेटी का सवाल था, ब्राह्मण-क्षत्रिय एक थे और केवल पिता की प्रधानता से वर्णाश्रम धर्म पालन किया जाता था।

कम्बुज राजा जयवर्मा सप्तम (११८२ ई०) की प्रथम रानी जय-राजदेवी एक ब्राह्मण की लड़की थी, जिसे उसकी बहन पंडिता परम-श्रद्धालु बौद्ध महिला इन्द्रदेवी ने धर्मग्रन्थ पढ़ाये थे। इस रानी ने संस्कृत में एक प्रशस्ति स्वयं रची थी, जो शिलालेख पर उत्कीर्ण आज भी मौजूद है। उस समय कम्बोज ही नहीं, बर्मा (नरपति) देश में भी विद्वान् ब्राह्मण हुआ करते थे। भरद्वाज-गोत्री हृषीकेश पंडित ने कम्बोज में वेदों का बहुत सम्मान सुनकर वहाँ की यात्रा की। जयवर्मा सप्तम ने उन्हें 'श्री जय महाप्रधान' की उपाधि दे राजपुरोहित बनाया। हृषीकेश पीछे भीमपुर के शिवालय की यात्रा करने गए, जहाँ उन्होंने एक शैव-कुल-कन्या श्रीप्रभा से ब्याह किया। श्रीप्रभा की द्वितीय कन्या 'चक्रवर्ती राजदेवी' की उपाधि से विभूषित हो जयवर्मा अष्टम की रानी बनी। श्रीप्रभा की छोटी बहन सुभद्रा का ब्याह ब्राह्मण 'अध्याप-काधिप' मंगलार्थ से हुआ, जिनका पुत्र महानाथ एक भारी वैयाकरण था, जिसे राजा जयवर्मा के शासनकाल में 'अध्यापकाधिप' की उपाधि से विभूषित किया गया था।

भट्ट दिवाकर के कुल में मथुरा में वर्णाश्रम-व्यवस्था कम्बुज की तरह

उदार नहीं हो सकती थी, लेकिन पर्यटक कभी अनुदार नहीं हो सकता, इसलिये कालिन्दी, छत्तीस हज़ार वैदिक ब्राह्मणों और कृष्ण की बाल-लीलावाली भूमि का मधुर स्मरण करते हुए भी देवभट्ट दिवाकर अब कम्बुज के थे और अपनी विद्या और प्रतिभा से उन्होंने कम्बुज को समृद्ध करना अपने जीवन का लक्ष्य मान लिया था।

आचार्य दीपंकर श्रीज्ञान

तिब्बत का भारत के साथ घनिष्ठ सांस्कृतिक संबंध स्थापित करने में जिन भारतीयों ने निःस्वार्थ भाव से काम किया, उनमें आचार्य दीपंकर श्रीज्ञान का नाम प्रथम पंक्ति में आता है। उनका नाम बल्कि तिब्बत में जितना प्रसिद्ध है, उतना भगवान् बुद्ध और पद्मसंभव को छोड़ और किसी भारतीय का नहीं है। इसमें शक नहीं कि भारत से जानेवाले विद्वानों में सर्वश्रेष्ठ आचार्य शान्तरक्षित तथा उनके शिष्य आचार्य कमलशील हैं, पर आचार्य दीपंकर भी असाधारण कोटि के विद्वान् थे और संस्कृत की अमूल्य निधियों को तिब्बती भाषा में सुलभ करनेवाले वह उपर्युक्त दोनों आचार्यों से भी बढ़-चढ़कर थे। कुछ थोड़े से अपवादों को छोड़ कर भारतीय नाम भी तिब्बत में अनुवाद करके बोले जाते हैं। दीपंकर श्रीज्ञान वहाँ द्पल्. मर्.-मेंद्. ज्ञेंद. ये. शेस्. हो जाता है और शान्त-रक्षित शि. वन्. छो। पर तिब्बत के लोग आचार्य दीपंकर को जिस नाम से अधिक पुकारते हैं, वह है "छोन्. जे. पल्. दन्" अतिशा (धर्मस्वामी श्री अतिशय) या केवल अतिशा।

आचार्य दीपंकर का जन्मदेश था: "भारत की पूर्व दिशा में सहोर। वहाँ भंगल नाम का बड़ा पुर है।...जिसके अन्दर कांचनध्वज प्रासाद था। . (इनके) पिता थे राजा कल्याणश्री . माता थीं श्री प्रभावती... दोनों को एक पुत्र जल-पुरुष-अश्व वर्ष (मन्मथ संवत्सर, विक्रमाब्द १०३६, सन् ९८२ ई०) में हुआ। . उस प्रासाद से नातिदूर विक्रमपुरी नामक विहार था..." दीपंकर के तिब्बती में लिखे जीवनचरित से मालूम होता था, कि वह भागलपुर के राजा के पुत्र थे और उनके पिता कल्याणश्री के महल से नातिदूर विक्रमशिला का विहार था। दीपंकर

बंगाल में पैदा हुये थे या विहार में, इस पर निर्मल शंकायें उठाई गई हैं ? जिस पर जहाँ तक तिब्बती प्रामाणिक सामग्री का सम्बन्ध है, इसमें कोई सन्देह नहीं रह जाता, कि वह भागलपुर में पैदा हुये थे। डेपुङ् विहार में छपे "गुरुगुणधर्माकर" पुस्तक में लिखा है :

"भारत पूर्व दिशा सहोर देशोत्तम में भंगल नामक पुर है। उसके स्वामी धर्मराज कल्याणश्री.. (थे) प्रासाद कांचनध्वज। मनुष्यों के घर एक लाख (उस नगर में थे)। धर्मराजा की रानी श्री प्रभावती...उस प्रासाद की उत्तरदिशा में विक्रमपुरी (विक्रमशिला) है।"

वहीं की ज पोथी में के चौथे ग्रंथ "भट्टारक दीपंकरश्रीज्ञानबृहत्-जीवनी" पृष्ठ २१–२२ में लिखा है :

"श्री वज्रासन (बुद्धगया) की पूर्व दिशा में भंगल महादेश है। उस भंगल देश में बड़ा नगर है भिक्रपुरी.. इस देश का नामान्तर सहोर है जिसके भीतर भिक्रमपुरी नामक नगर है।"

तिब्बती ग्रंथों से पता लगता है :

(१) सहोर भारत के पूर्व दिशा में एक देश था। आज भी सवोर परगना भागलपुर जिले म मौजूद है, जो पूरब में है।

(२) राजधानी भंगलपुर था, जो भागलपुर का ही रूपान्तर है।

(३) राजधानी से उत्तर में विक्रमशिला विहार था। यह स्थान सुल्तानगंज मालूम पड़ता है।

(४) विक्रमशिला गंगा के तट पर एक पहाड़ी पर अवस्थित था। सुल्तानगंज में आज भी अजगैबीनाथ और मुरली की दो पहाड़ियाँ मौजूद हैं, जिनमें पहिली गंगा के भीतर और दूसरी किनारे पर अवस्थित है।

९८२ ईसवी में पैदा हुये इस बालक के माता-पिता का उस समय के बौद्धजगत् में विख्यात विक्रमशिला विहार के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध था। परम्परा कहती है, कि पिता-माता अपने पुत्र को लिये

५१० रथों के साथ विहार में दर्शन करने के लिये ले गये। राजा के तीन लड़के थे : पद्मगर्भ, चन्द्रगर्भ और श्रीग जिनमें दीपंकर मँझले थे। ये मँझले चन्द्रगर्भ ही आगे चलकर अपने भिक्षु नाम दीपंकर श्रीज्ञान के नाम से प्रसिद्ध हुये। सभी उच्चकुलों, प्रभुताशाली कुलों में पैदा हुये बालकों की तरह चन्द्रगर्भ की लम्बी-लम्बी भविष्यद्वाणियां ज्योतिषियों ने कीं।

तीन वर्ष की आयु में चन्द्रगर्भ को पढ़ने के लिये बैठा दिया गया। बुद्धि तीव्र थी। ग्यारह वर्ष की आयु तक लिखना-पढ़ना सीखकर गणित के अतिरिक्त व्याकरण को भी उन्होंने पढ़ा। कुमार चन्द्रगर्भ पिता-राजा के जेठे पुत्र नहीं थे, कि उन्हें गद्दी सँभालनी पड़ती। उस समय उच्च शिक्षा विहारों में ही अच्छी तरह मिलती थी, जिसके लिये संसार-प्रसिद्ध विक्रमशिला महाविहार उसी राज्य में राजधानी से बहुत दूर नहीं था, पर प्राचीनता और प्रभाव में अब भी नालन्दा आगे बढ़ा हुआ था। एक दिन कुमार घूमते हुये किसी पास के जंगल में जा निकले। पता लगा पास ही में एक कुटिया में भिक्षु जितारि रहते हैं—कौन जितारि? महा वैयाकरण और महापण्डित के नाम से सारे पूर्व में प्रसिद्ध। कुमार उनके दर्शन के लिये गये। जितारि ने पूछा—तुम कौन हो?

"मैं देश के स्वामी का पुत्र हूँ!"

जितारि को इस कथन में कुछ गर्व की गन्ध मालूम हुई। और उन्होंने कहा—

"हमारा कोई स्वामी नहीं, दास नहीं, पालक नहीं, तू धरणीपति है, तो चला जा।"

अभी ८४ सिद्धों का युग था। तिलोपा, नाडपा जैसे सिद्ध मौजूद थे। जितारि की गिनती यद्यपि ८४ सिद्धों में नहीं हुई, पर वह विद्वान् होते हुये परम वैरागी थे, यह कुमार से छिपा नहीं था। वह बहुत नम्र हो बोले, कि मैं प्रव्रज्या (गृहत्याग) लेना चाहता हूँ।

जितारि समझा, कि राजधानी के पास के विहार में भिक्षु बनकर रहने पर अभिमान नहीं जायेगा, इसलिये उन्होंने कुमार को नालन्दा में जाकर भिक्षु बन प्रव्रज्या लेने का परामर्श दिया।

बिना माता-पिता की आज्ञा के कोई बौद्ध परिव्राजक (भिक्षु) नहीं हो सकता। चन्द्रगर्भ को पिता-माता की अनुमति पाने में कम कठिनाई का सामना नहीं करना पड़ा। अनुमति पाने के बाद वह कुछ अनुचरों के साथ नालन्दा जाते वहाँ के राजा से मिले, राजा ने पूछा—

"पास में विक्रमशिला जैसे महाविहार के रहते उसे छोड़ यहाँ क्यों आये?"

कुमार ने नालन्दा की प्राचीनता और महत्त्व को बतलाया। राजा ने नालन्दा विहार में सिफारिश करके उनके लिये अच्छे आवास का प्रबन्ध कर दिया। राजकुमार नालन्दा के प्रसिद्ध वृद्ध-भिक्षु बोधिभद्र के पास गये। पूरे २० वर्ष के होने पर ही भिक्षु-दीक्षा पाने का अधिकार होता है, जिसके लिये अभी ८-९ वर्ष की देर थी। आचार्य बोधिभद्र ने उन्हें (श्रामणेर को) दीक्षा दे, काषाय चीवर पहना दीपंकर श्रीज्ञान नाम दिया। दीपंकर शाक्यमुनि से पहिले एक बुद्ध हुये थे, जिन्होंने भविष्यवाणी की थी, कि यह पुरुष लक्षाब्दियों बाद बुद्ध होगा। नाम के साथ "श्रीज्ञान" जोड़ने का मतलब था, कि श्रामणेर से आगे पंडित होने की आशा की जाती थी।

बोधिभद्र के गुरु मैत्रीगुप्त उस समय अभी जीवित थे। उन्होंने पंडिताई छोड़ सिद्धों का मार्ग अनुसरण कर लिया था। उनकी सिद्धचर्या के कारण उन्हें लोग मैत्रीगुप्त की अपेक्षा मैत्रीपा, अद्वयवज्र या अवधूतिपाद के नाम से अधिक जानते थे। वह राजगृह में कुटिया में रहते थे। होनहार तरुण शिष्य को लेकर एक दिन बोधिभद्र अवधूतिपाद के पास ले गये। स्वीकार कर लेने पर वह अपने श्रामणेर को वहीं सिद्ध के पास अध्ययन के लिये छोड़ आये। दीपंकर १२ से १८ वर्ष की आयु तक

अवधूतिपाद के पास पढ़ते रहे। यहाँ दीपंकर ने शास्त्रों का अच्छी तरह अध्ययन किया।

मंत्र-तंत्र और सिद्धाई के उस युग में उन्हें इन विषयों का नियमपूर्वक अध्ययन आवश्यक था। इसके लिये चौरासी सिद्धों में से एक नारोपा (नाडपाद या नरोत्तमपाद) से बढ़कर गुरु मिल नहीं सकता था। नारोपा सिद्ध होते हुए भी एक प्रकांड पंडित थे। उस वक्त के महाविहार विद्या के बड़े-बड़े केन्द्र थे, जहाँ प्रवेश पाने के लिये विद्यार्थियों को कठिन द्वार-परीक्षा पास करनी पड़ती थी। इसके लिये हरेक द्वार पर एक से एक महापंडित रहते थे। नारोपा विक्रमशिला के उत्तरी द्वार के द्वारपंडित थे। दीपंकर राजगृह से जा उनके पास २६ वर्ष की आयु तक ११ साल पढ़ते रहे। दीपंकर के अतिरिक्त प्रज्ञारक्षित, कनकश्री, मानकश्री भी नारोपा के पास पढ़ते थे, जो आगे चलकर बड़े-बड़े पंडित हुए। देश के ही नहीं, विदेश के भी प्रतिभाशाली छात्र नारोपा के पास शिक्षा ग्रहण करने के लिये आया करते थे। यह इसी से मालूम होगा कि तिब्बत के सबसे बड़े सिद्ध और महाकवि मिला रेपा के गुरु मरपा भी नारोपा के शिष्य थे।

विक्रमशिला की पढ़ाई समाप्त कर दीपंकर को सन्तोष नहीं हुआ। वज्रासन (बोधगया) महाविहार के प्रधान भिक्षु की विद्या की बड़ी ख्याति थी। उनका नाम तब तो कुछ और था, पर वह वज्रासनी पाद (दोजेदन्पा) के नाम से ही प्रसिद्ध थे। दीपंकर अब वज्रासन के मतिविहार में पहुँचे और वहाँ के महाविनयधर (विनयपिटक के महाविद्वान्) शीलरक्षित के पास जा उनको गुरु बना भिक्षु-दीक्षा प्राप्त की और दो वर्ष तक उनके पास विनयपिटक का अध्ययन करते रहे। ३१ साल की उम्र हो जाने पर दीपंकर श्रीज्ञान शास्त्रों, तीनों पिटकों और तंत्रशास्त्र के पंडित हो चुके थे। पर अभी भी उनकी ज्ञानपिपासा शांत नहीं हुई थी।

सुवर्णद्वीप—वर्तमान सुमात्रा—के आचार्य धर्मपाल की उस समय

सारे बौद्ध जगत् में ख्याति थी। भारत को एकतरफा जगद्गुरु होने का उस समय अमिथ्या भिमान नहीं था, यह इसी से मालूम होगा कि कलिकालसर्वज्ञ की उपाधि से विभूषित तथा चौरासी सिद्धों में से एक रत्नाकर शांति (शान्तिपा) आचार्य धर्मपाल के शिष्य रह चुके थे। तर्क शास्त्र के प्रख्यात पंडित ज्ञानश्रीमित्र और रत्नकीर्ति भी उन्हीं चरणों में बैठे थे। दीपंकर इन विद्वानों से विक्रमशिला में मिले थे। हो सकता है, वह आचार्य धर्मपाल के शिष्यों से भी बहुत कुछ पा सकते थे, पर उससे उनकी घुमक्कड़ी की लालसा तो पूरी नहीं हो सकती थी। बोधगया से बिदा होकर वह समुद्रतट पर पहुँचे। सम्भवतः यह स्थान ताम्रलिप्ति (तमलुक, जिला मेदिनीपुर) था। यद्यपि तिब्बती भाषा में प्राप्त जीवनियों में दीपंकर श्रीज्ञान की भारत में और किसी यात्रा का वर्णन नहीं मिलता, पर सुमात्रा जाने से पहिले सारनाथ (ऋषिपतन), श्रावस्ती, कुसीनारा आदि के पुनीत स्थानों का दर्शन उन्होंने जरूर किया होगा। इस समय सम्भवतः मगध में विजयपाल (६६०–१०१८ ई०) और कन्नौज में महिपाल (६६२-१०४० ई०) का शासन था। यही समय था, जब कि महमूद गजनवी ने (६६७–१०३० ई०) भारत पर अनेक आक्रमण किये थे और कन्नौज, मथुरा, सोमनाथ, कालंजर उसकी लूट-खसोट से नहीं बच पाये थे। १०२३ ई० में उसके अन्तिम हमले में सोमनाथ महमूद का शिकार बननेवाला था, जिससे दस साल पहिले दीपंकर अपनी इस समुद्र यात्रा पर निकल रहे थे।

जहाज पर चढ़कर दीपंकर सकुशल सुवर्णद्वीप पहुँच गये। पर सुवर्ण-द्वीपीय आचार्य के पास सीधे न जा पहिले एक साल तक वह किसी एकान्त स्थान में निवास करते रहे। सुमात्रा में कुछ पुराने विहारों के ध्वंसावशेषों के अतिरिक्त बौद्ध धर्म का कोई चिह्न बचा नहीं है, पर उस समय वह एक अच्छा बौद्ध-विद्याकेन्द्र था। भारत की ओर विद्याध्ययन के लिये आनेवाले चीन आदि के भिक्षु पहिले यहाँ कुछ समय रहकर

संस्कृत पढ़ते थे, यह चीनी यात्रियों के उल्लेखों से चार सदी पहिले के उल्लेखों से ही हमें मालूम है। इस एकान्तवास के समय कितने ही भिक्षु उनसे आकर मिलते रहते थे। धीरे-धीरे लोग उनकी विद्वत्ता से परिचित हो गये और एक दिन अनायास ही दीपंकर श्रीज्ञान आचार्य धर्मपाल के पास पहुँच गये। इस अवसर के प्राप्त करने के लिये स्वर्ण-द्वीप पहुँचने में उनको १४ मास लगे थे। दीपंकर श्रीज्ञान आचार्य के पास १२ साल तक रहे। यद्यपि स्वर्णद्वीपीय के पास जिन ग्रंथों को उन्होंने पढ़ा, वह उनके लिये अपरिचित नहीं थे। उनमें से असंग का "अभिसमयालंकार" और शान्तिदेव का "बोधिचर्यावतार" अब भी मौजूद है। पर उस समय किसी महान् आचार्य के पास सविधि पढ़ने में बहुत समय लगता था। जैसे आज भी गगेश उपाध्याय की "तत्वचिंता-मणि" के ८–१० पन्नों को पढ़ने में हमारे विद्वान् १२-१२ साल लगा देते हैं। दर्शन के साथ-साथ शायद दीपंकर ने तंत्ररहस्य भी अपने गुरु से पढ़े।

४४ वर्ष के परिपक्व वय में सुवर्णद्वीप से लौटकर दीपंकर श्रीज्ञान विक्रमशिला में आकर रहने लगे। वहाँ अपनी विद्वत्ता और योग्यता के कारण वह ५१ पंडितों के मुखिया तथा १०८ विहार-देवालयों के नायक बना दिये गये। उनके निर्माण में सिद्ध भूतकोटिपाद, शान्तिपाद और अवधूतिपाद का हाथ था। अवधूतिपाद सिद्ध डमरूपा के शिष्य और महासिद्ध-कवि कण्हपा के प्रशिष्य थे। कण्हपा के गुरु सिद्ध जालं-धरपा चौरासी सिद्धों में मुख्य स्थान रखते हैं। इस प्रकार दीपंकर कोरे पंडित ही नहीं थे, बल्कि सिद्धों के घर की विद्या में भी पारंगत थे।

उस समय पूर्व भारत में नालन्दा, उडन्तपुरी (बिहार शरीफ) वज्रासन और विक्रमशिला के चार सर्वश्रेष्ठ विहार थे, जिनमें पुरानों से भी आगे बढ़ा हुआ था विक्रमशिला महाविहार। गंगा के तट पर अव-स्थित एक सुन्दर शैल को देखकर पलवंश के महाप्रतापी राजा धर्मपाल

(८६६-८१५ ई०) इतने प्रभावित हुये, कि उन्होंने एक विहार बनवा दिया। आठवीं सदी के अन्त में बना यह विहार ढाई शताब्दियों बाद अब एक विशाल महाविहार का रूप ले चुका था, जिसमें नालन्दा से भी अधिक विदेशी विद्यार्थी अध्ययन के लिये आया करते थे। १०८ पंडित और आठ महापडित वहाँ शिक्षा प्रदान करते थे। रत्नाकर शान्तिविहार के अध्यक्ष (संघस्थविर) थे। उनको ले शान्तिभद्र, मैत्रीपा (अवधूतीपा), डोम्बीपा, स्थविरभद्र, स्मृत्याकरसिद्ध (कश्मीरी), और दीपंकर श्रीज्ञान आठ पंडितों में थे। विहार के मध्य में बोधिसत्त्व अवलोकितेश्वर का सुन्दर मंदिर था। इसके अतिरिक्त चक्कर में ५३ और छोटे-छोटे देवालय थे, जिनमें तांत्रिक देव-देवियों की कलापूर्ण सुन्दर मूर्तियाँ स्थापित थीं। बाकी तीन महाविहार भी पाल-राज्य में ही अवस्थित थे, पर विक्रमशिला पर पाल-सम्राटों की विशेष भक्ति थी। चौरासी सिद्धों में अधिकांश पाल-काल (७६५-१२०० ई०) में हुये और उनमें से अधिकांश का सम्बन्ध विक्रमशिला विहार से था। तिब्बती लेखकों के अनुसार विक्रमशिला के तांत्रिक सिद्धों ने तुरुष्कों को मार भगाने में अपने मंत्रबल का अनेक बार सफलतापूर्वक प्रयोग किया, पर इतिहास बतलाता ही है, कि उनकी सफलता भारत को तुर्कों के हाथ में जाने से नहीं बचा सकी।

* * *

सातवीं सदी के मध्य में तिब्बती सम्राट् स्रोंग् चन् गम्बो (६२६-५० ई०) ने तिब्बत के विशाल साम्राज्य को स्थापित करते वहाँ बौद्धधर्म का आवाहन किया। नवीं सदी के मध्य में साम्राज्य के छिन्न-भिन्न होने पर उसी वंश के राजकुमार ञिगोन् ने पश्चिमी तिब्बत में जाकर मानसरोवर से लदाख तक फैले राज्य को स्थापित किया। मरने से पहिले उसने अपने राज्य—स्वभुजोपार्जित राज्य—को अपने तीन बेटों में बाँट दिया। द्पल् गियु ल्दे को लदाख मिला, टशी ल्दे को पुरंग् (स्पु रङ स)

और दे-चुग्-गोन् को गूगे (शङ्-शुङ्) । गूगे के राजा बौद्धधर्म के प्रचार में विशेष उत्साह रखते थे, यह इसी से मालूम होगा, कि ल्देचुग् के ज्येष्ठ पुत्र खोर ल्दे (चक्रसेन) और उसके पुत्र नागराज अपने चचा स्रोङ् ल्दे को राज्य देकर भिक्षु बन गये। भिक्षु बनने पर चक्रसेन का नाम येशे ओद् (ज्ञानप्रभ) पड़ा। इस समय तिब्बत के बौद्धधर्म में बहुत शिथिलता आ गई थी। भिक्षुओं ने धर्म-ग्रन्थों का पढ़ना छोड़ दिया था। वर्षावास के तीन महीनों को छोड़ वह भिक्षुओं के नियमों के पालन करने की आवश्यकता नहीं समझते थे। तांत्रिक लोग मद्यपान और मुक्त व्यभिचार को परम सिद्ध-चर्या समझते थे। विहारों के अधिकारी भड़कीली पोशाक पहनकर अपने को अर्हत् (मुक्त पुरुष) घोषित करते फिरते थे। ज्ञानप्रभ ने धर्मग्रन्थों को स्वयं पढ़ा था, और बुद्धिवादी होते भी उनकी बुद्धधर्म पर बड़ी आस्था थी। उनको अपने पूर्वजों से यह भक्ति मिली थी। यद्यपि तिब्बत में बौद्धधर्म का प्रचार उस समय हुआ था, जब कि भारत घोर तांत्रिक युग में प्रवेश कर रहा था। ज्ञानप्रभ के समय तंत्रवाद ने भारत के सभी धर्मों को ग्रस लिया था, तो भी ज्ञानप्रभ का उस पर विश्वास न था। उन्होंने मंत्र-तंत्र के विरुद्ध एक पुस्तिका लिखी थी, जिसके कारण आज भी तिब्बत के तांत्रिकों का विश्वास है, कि देवगुरु ज्ञानप्रभ नरक में गये। ज्ञानप्रभ ने अपने अकेले प्रयत्न को पर्याप्त नहीं समझा, और उन्होंने २१ होनहार तिब्बती बालकों को दस साल तक देश में अच्छी तरह शिक्षा दिलाने के बाद उच्च शिक्षा प्राप्त करने के लिये कश्मीर भेजा, जहाँ वह पंडित रत्नभद्र के पास पढ़ते रहे। कश्मीर काफी ठंडा प्रदेश है, तो भी मानसरोवर के अतिशीतल स्थान के वासी इन तरुणों को वह अनुकूल नहीं आया, और रत्नभद्र (रिन्-छेन् सङ्-पो) तथा सुप्रज्ञ (लेगस् . पइ शे-रब्) को छोड़ सभी वहीं मर गये।

रत्नभद्र तिब्बत के महान् लोचवा (दुभाषिया पंडित) माने जाते

हैं, उनके विद्या प्राप्त कर लौटने से देवगुरु ज्ञानप्रभ को बड़ी प्रसन्नता हुई, पर सुधार का जो बड़ा काम करना था, वह उनके मान का नहीं था। देवगुरु ने सोचा—भारत जैसे गरम देश में ठंडे देश के आदमियों का रहकर पढ़ना कठिन है, अच्छा होगा, यदि भारत का कोई विद्वान् आकर यहाँ काम करे। पश्चिमी तिब्बत के भी विद्यार्थी भारत के महाविहारों में पढ़ने आया करते थे। उनसे मालूम हुआ, कि विक्रमशिला महाविहार में दीपंकर श्रीज्ञान नाम के एक महान् विद्वान् हैं। ज्ञानयश ने बहुत सा संबल देकर अपने कुछ आदमियों को विक्रमशिला भेजा, पर दीपंकर ने उस समय जाना स्वीकार नहीं किया।

ज्ञानयश इस खबर से हताश नहीं हुये। उन्होंने फिर दूत भेजने का निश्चय किया। पर उसके लिये पर्याप्त धन नहीं था। गर्लोग् प्रदेश में वह सोना जमा करने गये। यह प्रदेश कहाँ था, यह मालूम नहीं, पर यदि उससे सोने की खानों से मतलब है, तो वह मानसरोवर के उत्तर में गर्तोग् के पास अब भी है। गढ़वाल का भी नाम गढ़ देश है और यह दोनों पड़ोसी एक दूसरे पर लूट-मार किया करते थे। उसे भी गर-लोग् कह सकते हैं। आशा यही रखनी चाहिये, कि देवगुरु ज्ञानप्रभ कोई लूट-पाट का अभियान नहीं ले गये थे। जो भी हो, गर्लोग् के राजा ने उन्हें पकड़ कर जेल में डाल दिया और मुक्त करने के लिये भारी रकम माँगी। पिता के पकड़े जाने की खबर सुनकर देवगुरु बोधिप्रभ (ब्यङ्, छुब्, ओद्) काफी धन जमा कर छुड़ाने के लिये गये। धन कम पड़ जाने पर और लाने से पहिले वह कारागार में ज्ञानप्रभ से मिले। उन्होंने मना करते हुये कहा—"तुम जानते हो, मैं बूढ़ा हूँ। यदि तत्काल न मरा, तो भी दस बरस से अधिक जीना मेरे लिये संभव नहीं है। धन-सोना दे देने पर भी हम भारत से पंडित बुला नहीं सकेंगे। कितना अच्छा होगा, यदि धर्म के लिये मेरा मरण यहीं हो, और तुम सारा सोना भारत भेजकर वहाँ से पण्डित को बुला मँगाओ। राजा का

भी क्या विश्वास है कि वह सोना पाकर भी मुझे छोड़ देगा इसलिये पुत्र, मेरी चिन्ता छोड़ो और सोना देकर आदमियों को अतिशा के पास भेजो। भोट देश में धर्म का काम करने तथा मेरी इस दशा को जान कर वह अवश्य हमारे देश पर कृपा करेंगे। यदि वह किसी कारण नहीं आ सके, तो उनके नीचे के किसी दूसरे पण्डित को बुलाना।" यह कह-कर देवगुरु ज्ञानयश ने पुत्र के ऊपर हाथ फेर आशीर्वाद दिया। पुत्र ने अंतिम बिदाई ली।

देवगुरु (ल्ह ब्ल. म) उस समय राजवंशी भिक्षुओं को कहते थे। देवगुरु बोधिप्रभ ने भारत भेजने के लिये आदमी ढूँढ़ने शुरू किये। उपासक गुङ् थङ्. पा पहिले भी भारत में दो वर्ष रह आया था। देव-गुरु ने उसे इस काम पर नियुक्त किया। उसने नग्. छो निवासी भिक्षु छुल्. ठिम्. ग्यल्. वा (शीलविजय) तथा कुछ दूसरे आदमियों को साथ लिया। कुल दस आदमी नेपाल के रास्ते सीधे विक्रमशिला पहुँचे। दीपंकर श्रीज्ञान अतिशा के प्रिय शिष्य ने अपने गुरु के जीवन-चरित "गुरुगुणधर्माकर" में कितनी ही बातें बड़े सुन्दर रूप से वर्णित की हैं। उसने लिखा है : जिस समय ये दसों आदमी गंगा के घाट पर पहुँचे, तो सूर्यास्त हो चुका था। मल्लाह फिरकर आने की बात कहकर भरी नाव को परले पार उतारने गया। देर होने से तिब्बती यात्रियों को सन्देह होने लगा, कि वह अब शायद नहीं आयेगा। डर के मारे उन्होंने पास के सोने को बालू में दबा दिया और वहीं रात बिताने का इन्तजाम करने लगे। थोड़ी ही देर में मल्लाह आ गया। यात्रियों ने कहा—हम तो समझे, तुम अब नहीं आओगे।

"तुम्हें घाट पर छोड़ मैं राजनियमों का कैसे उल्लंघन कर सकता हूँ!"

नाव पर चढ़ाकर उसे आगे बढ़ाते मल्लाह ने उन्हें बतलाया—"इस वक्त फाटक बन्द हो गये होंगे। आप लोग पश्चिम फाटक के बाहर

जो धर्मशाला है, वहीं रात को विश्राम करें, सबेरे फाटक खुलने पर भीतर जायें।"

यात्री पश्चिमी फाटकवाली धर्मशाला में पहुँचे और वहाँ रात को सोने का प्रबन्ध करने लगे। फाटक के ऊपरवाले कोठे पर भोट भिक्षु ग्य निवासी भिक्षु चोन्. सेङ् (विक्रमसिंह) रहते थे। उन्होंने अपनी मातृभाषा में लोगों को बातचीत करते सुना। पूछने पर यात्रियों ने अपना परिचय देते आने का उद्देश्य बतलाया। विक्रमसिंह का ग्राम ग्य आजकल लदाख से कुल्लू के रास्ते पर अन्तिम गाँव है जो आजकल उजड़ा पड़ा है। अतिशा को लाने की बात सुनकर विक्रम ने सलाह दी—"अभी अतिशा के ले जाने की बात न करके आप लोग कहें, कि हम पढ़ने के लिये आये हैं, नहीं तो बात मालूम हो जाने पर अतिशा का ले जाना कठिन हो जायेगा। अवसर देख कर मैं आप लोगों को अतिशा के पास ले चलूँगा, फिर जैसा वह कहें, वैसा करना।"

यात्रियों के विक्रमशिला पहुँचने के चन्द दिनों बाद पंडितों की एक सभा हो रही थी। विक्रमसिंह उन्हें पंडितों को दिखलाने के लिये ले गये। वहाँ उन्होंने विक्रमशिला के पंडितों तथा अतिशा के नीचे के पंडितों—रत्नकीर्ति, तथागतरक्षित, सुमतिकीर्ति, वैरोचनरक्षित, कनकश्री आदि को देखा। उन्हें मालूम हो गया कि पंडित-मंडली में अतिशा कितने अतिशय सम्मान के भाजन हैं।

कुछ दिनों बाद अवसर देखकर विक्रमसिंह अपने देशवासियों को अतिशा के पास ले गये। उन्होंने अतिशा का अभिवादन कर सारा सोना उनके सामने रख दिया और राजभिक्षु ज्ञानप्रभ की करुण कहानी सुनाई। दीपंकर उसे सुनकर बहुत प्रभावित हुये और बोले—"निस्सन्देह ज्ञानप्रभ बोधिसत्त्व थे, जिन्होंने धर्म के लिये इतना उत्सर्ग किया। मैं उनकी कामना को अपूर्ण नहीं करूँगा। किन्तु तुम जानते हो, मेरे ऊपर १०८ विहार-देवालयों का भार है तथा और भी बहुत से काम हैं।

उनसे छुट्टी लेने में १८ महीने लगेंगे, तब मैं चल सकूँगा। अभी यह सोना अपने ही पास रक्खो।"

भोट-यात्री अतिशा के वचन और वर्ताव से बहुत प्रसन्न हुये और पढ़ाई का बहाना करके वहीं रहने लगे। अतिशा भी अपनी तैयारी में लगे...इस समय उनकी आयु ५७-५८ वर्ष की थी पर आयु उनके लिये कोई बाधा नहीं उपस्थित कर सकती थी। सन् संभवतः १०३६ या या १०४० का था। समय पा अतिशा ने महाविहार के मुख्यनायक (संघस्थविर) रत्नाकरशान्ति से सारी बात कही। वह भला ऐसे योग्य पंडित से अपने को कैसे वंचित कर सकते थे? उन्होंने गुड्-थङ् पा और उनके साथियों से कहा—"भोट आयुष्मान्, आप लोग अपने को पढ़ने के लिये आया कहते हैं? क्या आप लोग अतिशाको ले जाने के लिये नहीं आये हैं? इस समय अतिशा भारतीयों की आँख हैं, देख नहीं रहे हो, पश्चिम दिशा में तुरुष्कों का उपद्रव हो रहा है, यदि इस समय अतिशा चले गये, तो भगवान् का धर्मसूर्य भी यहाँ से अस्त हो जायेगा।"

यद्यपि इससे दस साल पहले (१०२६ ई०) महमूद का देहान्त हो चुका था, पर पंजाब पर अब गजनवियों का अधिकार था। इस्लाम मध्य एशिया से बौद्ध धर्म का प्रायः उच्छेद कर चुका था। महमूद का पुत्र मसउद (१०३०-४० ई०) कन्नौज के ऊपर हर समय प्रहार करने की कोशिश कर रहा था। इन भीषण संघर्षों में सैकड़ों बौद्ध विहार नष्ट हो गये, हजारों की संख्या में भिक्षु शरणार्थी हो भारत के विहारों में रह रहे थे। लाखों स्त्री-पुरुष घरसे बे घर हो मारे-मारे फिर रहे थे।

बड़ी कठिनाई से संघस्थविर ने अतिशा को तिब्बत जाने की अनुमति दी। अतिशा ने सोना मँगवाकर उसमें से एक चौथाई पंडितों को, दूसरा चौथाई वज्रासन (बोध गया) की पूजा के लिये, तीसरा चतुर्थांश संघस्थविर रत्नाकर शान्तिपाद के हाथों में महाविहार के लिये और चौथा भाग दूसरे कामों के लिये राजा के हाथ में दे दिया। फिर

उन्होंने कुछ भोट जनों के साथ अपने कुछ आदमियों को नेपाल भेज दिया। अब ग्यनिवासी लोचवा आदि ग्रश्र अ १२ आदमियों के साथ कुल १२ आदमी बोधगया की ओर चले। भारत छोड़ने से पहिले अंतिम बार उस स्थान का दर्शन कर लेना आवश्यक था, जहाँ सिद्धार्थ गौतम बुद्ध हुये थे।

बज्रासन और कितने ही और तीर्थस्थानों का दर्शन करते दीपंकर पंडित, और क्षितिगर्भ आदि के साथ अतिशा बीस आदमियों की मडली के साथ भारत की सीमा के पास एक छोटे से विहार में पहुँचे। इस समय की स्थिति के बारे में डोम्-तोन्-पा लिखता है : "स्वामी के भोट-प्रस्थान के समय भारत में (बुद्ध) शासन अस्त होनेवाला सा था।" भारत की सीमा के पास अतिशा को कुतिया के तीन अनाथ बच्चे दिखाई पड़े। वृद्ध भिक्षु के हृदय में अपार दया उनके प्रति उमड़ आई। उन्हें उन्होंने अपने चीवर में उठा लिया। कहते हैं, आज भी उन कुत्तों की नसल डांङ् प्रदेश में वर्तमान है।

सीमा पार हो अतिशा की मंडली नेपाल-राज्य में प्रविष्ट हुई और धीरे-धीरे वह नेपाल-राजधानी में पहुँची। इस समय संभवतः नेपाल में ठकुरी वंश का राजा जयकामदेव शासन कर रहा था...राजा ने उनका बहुत सम्मान किया और उन्हें अपने देश में रहने के लिए बहुत आग्रह किया, जिसको अतिशा सहसा अस्वीकार नहीं कर सकते थे और वह वहाँ एक वर्ष (१६४१ ई०) रहे। इसी समय राजवंश के एक कुमार ने उनसे भिक्षु-दीक्षा ली।

नेपाल से ही आचार्य ने पालवंशी राजा नयपाल (१०४०–५५ ई०) को एक पत्र लिखा था, जो आज भी अपने तिब्बती अनुवाद के रूप में तन्-जुर् संग्रह (मृदो-ग्रेल, डे, ३३) में "विमल रत्नलेख" के नाम से सुरक्षित है। (स्थविरमहापंडितदीपंकरश्रीज्ञानेन प्रेषितो विमल-रत्न-

लेखो नाम)। तिब्बती अनुवादों के रूप में भारतीय बौद्ध आचार्यों के ऐसे कितने ही पत्र सुरक्षित हैं, जैसे—

आचार्य	किसको	नाम	समय	तन्-जुर्
नागार्जुन	उदायिभद्र (शातवाहन)	सुहृल्लेख	ई० २री सदी	गि०३२, डे. २७
चन्द्रगोमी	वीररत्नकीर्ति	शिष्यलेख	,, ६ठी सदी	,, ३३, ,, २८
मातृचेट	कनिष्क	महाराज-कनिष्क०	,, १ली सदी	,, ३४, ,, २९
जितारि		चित्तरत्नवि-शोधनक्रम	११ वीं ,,	३१, ,, ३०
गुरु० बोधिभद्र (सोमपुरी)	बोधिभद्र ०	गुरुलेख	,, ०	,, ३१
सज्जन	सूक्ष्मज्ञान	पुत्रलेख	,,	० ,, ३२
दीपंकर श्रीज्ञान	नयपाल	विमलरत्नलेख	,,	गि, १०३, ,, ३३
जगत्मित्रानन्द	जयचन्द्र	चन्द्रराजलेख	१२वीं सदी	० , ,, ३४

तिब्बत में (१०४२–५४ ई०)—

नेपाल से आगे जब आचार्य की मंडली थुङ्. विहार में पहुँची, तो लोचवा (दुभाषिया आचार्य) विक्रमसिंह बीमार पड़ गये। बहुत उपचार किया गया, पर वह बच न सके। इससे अतिशा को बहुत दुःख हुआ। वह निराश होकर कहने लगे—"जब लोचवा ही नहीं रहे, तो मेरा भोट जाना बेकार है।" शीलविजय आदि दूसरे लोचवा लोगों ने उन्हें समझाया। मानेपालकी सीमा पारकर जैसे आचार्य गूगे प्रदेश में दाखिल हुये, देवगुरु बोधिप्रभ का स्वागत तैयार था। सब जगह ऐसा प्रबन्ध किया गया था, कि आचार्य और उनकी मंडली को कोई कष्ट न हो। भोटवासी जनसाधारण भी उन भारतीय आचार्य के प्रति अपनी श्रद्धा-

भक्ति दिखलाने में कोई कसर उठा रखना नहीं चाहते थे। जल-पुरुष अश्व वर्ष (चित्रभानु, १०४२ ई०) में ङ री (मानसरोवर प्रदेश) में पहुँचे। राजधानी थो. लिङ्. में पहुँचने से पहिले ही राजा अगवानी के लिये आया और बड़े सत्कार के साथ उन्हें थो. लिङ्. विहार में ले गया, जिसे दिवंगत ज्ञानप्रभने बनयाया था। ६ महीने आचार्य ने इसी विहार में रहते धर्मोपदेश किये, कितने ही ग्रन्थों के अनुवाद किये, और अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ "बोधि-पथप्रदीप" को यहीं लिखा, जो तिब्बती अनुवाद में अब भी मौजूद है। ङ, री प्रदेश में आचार्य ३ वर्ष रहे। फिर वह द्रुम-पुरुष-वानर (हेमलम्ब, १०४४ ई०) वर्ष में मानसरोवर के पूर्ववाले पुरङ्. (स्पु. रङ्. स्) गये। यहीं उनका सबसे प्रिय और अनुरक्त शिष्य डोम्. तोन्. पा आक गुरु से मिले, जो तब से अतिशा की मृत्यु के समय (१०५४ ई०) तक छाया की तरह साथ रहे और "गुरु-गुणधर्माकर" के नाम से उनका चरित लिखा।

आचार्य का कार्यक्षेत्र सर्वत्र था। लोग उनका उपदेश सुनने के लिये दूर-दूर से आते और अपने यहाँ आने का निमत्रण देते। आचार्य भी थोड़ा-थोड़ा ठहरते बराबर विचरते रहते। तिब्बती भाषा पर अन्त तक उन्होंने साधारण भी अधिकार प्राप्त नहीं किया। ङले और शिला का पर्याय ठीक से न जानने के उनके ऊपर लोगों के मजाक अब भी मशहूर हैं। पर अतिशा के पास इतना समय कहाँ था। विचरते हुए, धर्मोपदेश करते हुए भी उन्हें ग्रन्थ लिखने पड़ते, कितने ही महत्त्वपूर्ण संस्कृत ग्रन्थों का अनुवाद करना पड़ता। भाषा का अच्छा ज्ञान न होना उनके लिये बाधक नहीं था, क्योंकि उनके पास एक से एक दुभाषिया-पंडित (लोचवा) मौजूद थे। देवगुरु महालोचवा द्वारा काश्मीर द्वारा भेजे गये तथा वहाँ से संस्कृत भाषा और शास्त्रों के पंडित होकर लौटे। महालोचवा रत्नभद्र (लो. छेन् रिन्. छेन्. बसङ्. पो) ने पहिले अपनी पंडिताई के घमंड में आचार्य का अच्छी तरह सत्कार न किया,

पर पीछे उनके पांडित्य और सुन्दर बर्ताव से इतने प्रभावित हुये, कि वह भी उनके अनुरक्त हो गये और कितने ही ग्रन्थों के अनुवाद करने में उनके सहायक रहे।

अपने तेरह वर्ष के भोटप्रवास के अंतिम जीवन में आचार्य ने तीन वर्ष ङरङ. ङरङ. री में, चार वर्ष मध्य-तिब्बत में और ६ वर्ष थङ्. में बिताये। मध्य तिब्बत के सम्-ये विहार में वह अग्नि-पुरुष-शूकर (१०४७ ई०) वर्ष में पहुँचे। वहाँ यह तिब्बत का प्रथम विहार था, जिसे भारतीय आचार्य शान्तरक्षित ने सम्राट् ठि. स्रोङ्. दे. चन् के समय (७५५–८० ई० में) स्थापित कर प्रथम बार भोट कुलपुत्रों को भिक्षु बनाया था। यहाँ सैकड़ों संस्कृत ग्रन्थों के अनुवाद हुये थे और पुस्तकालय तो इतना विशाल था, जिसे देखकर आचार्य चकित हो गये। वहाँ उन्होंने कुछ ऐसे भी ग्रन्थ देखे, जो उस समय भारत के विहारों में भी दुर्लभ थे। पीछे आग लग जाने से यह सारा विहार जल गया, जिसे फिर से १३वीं सदी के पूर्वार्ध में वं. लोचवा दोजे. द्पल् (बज्रश्री) ने फिर से बनवाया।

तिब्बत में जहाँ-जहाँ आचार्य दीपंकर गये, वहाँ-वहाँ अब भी उनकी स्मृतियाँ सुरक्षित हैं। ल्हासा में उनका स्मारक स्थान मौजूद है। १०५० ई० (लोह पुरुष-व्याघ्र, विकृत संवत्सर) में येर्. वा में रहे, जो ल्हासा से केदिने के रास्ते पर उत्तर-पूर्व में है। यहीं १०५१ ई० में उन्होंने "कालचक्र" पर अपनी टीका लिखी। ल्हासा से दक्खिन एक दिन के रास्ते पर थङ्. उनका अंतिम निवासस्थान बना, जहाँ द्रुम-पुरुष-अश्व वर्ष (१०५४ ई०) के आठवें चान्द्र मास की १८वीं तिथि को इस महान् पुरुष ने ७३ वर्ष की आयु में अपना शरीर छोड़ा। अपनी पहिली तिब्बत-यात्रा के समय २५ अप्रैल को इन पंक्तियों का लेखक थङ्. के उस डोल्मा. ल्ह. खङ्. (तारादेवालय) में गया, जहाँ आचार्य का निर्वाण हुआ था। उस समय उसके बारे में लिखा था—अन्य प्राचीन

महत्वपूर्ण स्थानों की भाँति यह स्थान भी उपेक्षित है। मकान जीर्ण-शीर्ण हैं। भीतर तारादेवालय है, बाहर मोटे-मोटे लाल चन्दन के खम्भे लगे हैं। उनकी खुरखुरी-खुरदरी शक्ल ही बता रही थी, कि वह आठनौ सौ वर्षों से कम पुराने नहीं हैं, वहाँ सारी ही मंडली लड़कों की थी। पुजारी साधु भा लड़का, और आस-पास के दूसरे भी लड़के। मैंने दो-चार आने पैसे बाँट दिये। फिर क्या था, बड़े उत्साह से हरेक चीज दिखाई जाने लगी···मंदिर के भीतर दीपंकर की इष्ट २१ तारादेवी की सुन्दर मूर्तियाँ स्थापित हैं। उसी मन्दिर में बाईं ओर एक लोहे के पिंजड़े में महागुरु दलाईलामा की मुद्रा के भीतर बन्द दीपंकर का भिक्षापात्र, दंड और तांबे का धर्मकरक (लोटा) रक्खा है। भीतर ही कुछ चाँदी के सिक्के और अनाज रक्खे हैं। मन्दिर के भीतर पीछे की ओर तीन पीतल के स्तूप हैं, जिनमें से एक में दीपंकर का पात्र, दूसरे में सिद्ध कारोपा का हृदय और तीसरे में दीपंकर के शिष्य डोम्. तोन्. जिनाकर (१००३–६४ ई०) का वस्त्र रक्खा है। बतलाया जाता है।

आचार्य दीपंकर श्रीज्ञान की कृतियाँ मूल भाषा में लुप्त हो चुकी हैं। उनके हाथ की एक तालपोथी का ल्हासा के उत्तर चार दिन के रास्ते पर रेडिङ्. विहार में होने का पता लगने पर मैं वहाँ १९३४ की दूसरी यात्रा में पहुँचा था, पर वह नहीं देखी जा सकी। उनके साथ गये कुछ चित्रपट भी वहाँ अवश्य थे, पर उनका निश्चय करना उस समय संभव नहीं था। धर्म और दर्शन पर ३५ तथा तंत्र पर छोटे-मोटे ७० से अधिक ग्रन्थ उन्होंने लिखे, जो तिब्बती अनुवाद (तन्-जुर् संग्रह) में सुरक्षित हैं। इनके अतिरिक्त बहुत से और संस्कृत ग्रन्थों का अनुवाद उन्होंने लोचवा लोगों की सहायता से किया, जिनमें ९ ग्रन्थ कन्. जुर् में हैं, ५१ तन्. जुर् में (सूत्र–टीका में २१ और तंत्रटीका ३०)। उनके अनुवादों में दर्शन के कितने ही गंभीर ग्रन्थ हैं, जैसे—

ग्रंथनाम	लेखक	लोचवा
मध्यमकरत्नप्रदीप	भाव्य	गर्य चोन्. ग्रुस्. सेङ्. गे (विक्रमसिंह)
मध्यमकहृदय कारिका	,,	नग्. छो छुल. खिम्स्. ग्यल्. वा (शीलजय) ल्हासामें
मध्यमक-वृत्ति ,, वृत्ति	,,	,,
मध्यमकार्थसंग्रह	,,	,,
मध्यमकभ्रमघात (?)	आर्यदेव	,,
पचस्कंधप्रकरण	चन्द्रकीर्त्ति	,,
रत्नकरंडोद्घाट	दीपंकरश्रीज्ञान	ग्य लोचवा और शीलजय
शिक्षासमुच्चयाभिसमय	सुवर्णद्वीपीय धर्मपाल	शीलजय
बोधिपथप्रदीप	दीपंकर०	शु. द्गे. वह ब्लो. ग्रोस्
,, पंजिका	,,	शीलजय (जयशील)
महासूत्रसमुच्चय	,,	जयानन्द और प. छब्. म. ग्रग्स

कई हजार भारतीय पुस्तकों का अनुवाद तिब्बती भाषा में सुरक्षित है, पर उनके मूल हमारी भाषा में एकाध सौ से अधिक नहीं मिलते। तिब्बत में १०० से अधिक ताल-पोथियाँ इन प्रतियों के लेखक के देखने में आईं, उससे भी अधिक पोथियों के वहाँ मिलने की आशा है। आज की तिब्बती सरकार इन सांस्कृतिक निधियों के महत्त्व को समझती है। आशा है दीपंकरश्रीज्ञान के देशभाई इस कार्य में तिब्बती विद्वानों की सहायता करेंगे।

तिब्बत पर्यटक नैनसिंह

इसमें शक नहीं कि हमारा देश सहस्राब्दियों से बड़े-बड़े पर्यटकों की जन्मभूमि रहा है। इन्हीं के बल पर हमारे देश ने दुनिया में धर्म-विजय की और अपना सन्देश दूर-दूर की सभ्य ही नहीं, असभ्य जातियों तक पहुँचाया। लेकिन हमारी यह कमजोरी रही, कि हमने, हमारे पर्यटकों ने, यात्रा-साहित्य सृजन का कोई काम नहीं किया और न उन्होंने वैज्ञानिक ढंग से भूगोल-सम्बन्धी अनुसन्धानों का ही सूत्रपात किया। जब पश्चिम से हमारा सम्पर्क हुआ, भारत के ऊपर अंग्रेजों ने अपनी विजय-ध्वजा गाड़ दी, तो उन्हें देश के परिचय के लिये भूगोल और नकशों के तैयार करने की आवश्यकता पड़ी। १८ वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में ही उन्होंने इस काम में हाथ लगा दिया, और उस समय के रेनल के नकशों को देखकर आश्चर्य और श्रद्धा दोनों के भाव उत्पन्न होते हैं। भारत के भीतर जिस तरह अंग्रेजों का राज्य बढ़ता गया, उसी के अनुसार भूगोल-सम्बन्धी बातों के मालूम करने तथा नक्शा बनाने में उनको सुभीता होता गया। लेकिन १९ वीं शताब्दी के मध्य में पहुँचते-पहुँचते अंग्रेजों के साम्राज्य-विस्तार की लालसा खतम नहीं हो गई, बल्कि अब उन्होंने भारत से आगे बढ़ने के लिये हाथ-पैर मारना शुरू किया। भारतीयों को चाहे इसका पता न हो, लेकिन अंग्रेज जानते थे कि जिस समय उन्होंने पलासी की लड़ाई जीतकर भारत पर अपना झंडा गाड़ा, उसी समय रूस सारे साइबेरिया को रौंद चुका था। सन् ५७ के गदर से पहले उन्हें इस बात का बड़ा डर था, कि असन्तुष्ट सिक्ख और दूसरे राजा रूस से गठबन्धन करके कहीं उन्हें निकालने की कोशिश न करें, इसीलिये वह जानना चाहते

थे, कि भारतवर्ष के उत्तर में रूस की राज्य-सीमा तक और कौन-कौन से देश हैं और वहाँ हाथ-पैर बढ़ाने में हमें किस लाभ की आशा है। इसी ख्याल से उन्होंने तिब्बत और मध्य-एशिया के सम्बन्ध में भौगोलिक जानकारी प्राप्त करने का प्रयत्न शुरू किया।

अंग्रेजों और दूसरे भी यूरोपीय राज्यों के कारनामों से एशिया के लोग चौंक उठे थे और किसी को उनसे अपनी खैरियत की आशा नहीं थी। अंग्रेज स्वयं एशिया के इन देशों में गुप्तचर नहीं जा सकते थे, क्योंकि अपने रंग और चेहरे के कारण वह छिपे नहीं रह सकते थे। पकड़े जाने का मतलब प्राण से हाथ धोना या जेल में बन्द होना था। उन्होंने इसके लिए भारतीयों को इस्तेमाल किया। यह बड़े खतरे की बात थी, क्योंकि अंग्रेजी गुप्तचर भारतीय का पता पा जाने पर उनके साथ जरा भी दया नहीं दिखला सकते।

नेपाल-युद्ध (१८१४-१५ ई०) के बाद हिमालय के भीतर तिब्बत की सीमा तक अंग्रेजों का राज्य पहुँच गया। कुमाऊँ, गढ़वाल, कनौर वाले लोग सहस्राब्दियों से पश्चिमी तिब्बत के साथ व्यापार करते चले आये थे और उनमें से नेलङ्, कनौर आदि के निवासी उसी बौद्ध धर्म के माननेवाले थे, जिसका तिब्बत में प्रचार है। उनके लिए तिब्बत में कहीं भी जाना मुश्किल नहीं था। सैकड़ों की तादाद में गंगोत्री से लद्दाख तक के अंग्रेजी इलाके के भिक्षु तिब्बत के डेपुङ्, सेरा, गन्-दन् और टशी-ल्हुन्-पो के विहारों में पढ़ने के लिए जाया करते थे, जिन पर तिब्बती सन्देह नहीं कर सकते थे। लेकिन अंग्रेज इन पर उतना विश्वास नहीं कर सकते थे, क्योंकि बौद्ध होने से शायद वह अंग्रेजों के लिए बहुत नीचे तक न उतर सकते। इसके लिए उन्होंने कुमाऊँ के सीमान्तवाले लोगों को इस्तेमाल किया, जो यद्यपि तिब्बत के साथ व्यापारिक सम्बन्ध रखते थे, सहभोज भी करते थे, लेकिन लामा-धर्म छोड़-कर अब ब्राह्मणधर्मी बन गये थे। मिलम घाटीवाले लोग ऐसे ही थे।

नैनसिंह, मिलम के रहनेवाले एक जबर्दस्त पर्यटक थे। उन्होंने अंग्रेजों को तिब्बत और मध्य-एशिया का भौगोलिक ज्ञान देने के लिए बहुमूल्य सामग्री एकत्रित की। अंग्रेजों के भेजे हुए गुप्तचरों के नाम को गुप्त रखना उस समय जरूरी समझा जाता था, क्योंकि पता लग जाने पर वह बचकर निकल नहीं सकते थे। नैनसिंह ने १८६५ ई० से लेकर १८७३ ई० तक अंग्रेजों के लिए यह काम किया। अपने गुप्तचर पर्यटकों को अंग्रेज अपनी लिखा-पढ़ी में "पंडित क" आदि कहकर पुकारते थे। यही वजह है जो हमें उनके नामों के साथ पंडित लगा मिलता है। कुमाऊँ के अल्मोड़ा जिले में मिलम ११,००० फुट की ऊँचाई पर एक बड़ा गाँव है, जहाँ से आदमी एक दिन में डांड़े को पारकर तिब्बत में पहुंच सकता है। दूसरे पहाड़ी लोग मिलम, व्यांस, चौदंस, नीती, माना आदि के निवासियो को भोटिया कहते हैं, और पास के तिब्बतवालों को हुणिया (हूण)। लेकिन वस्तुतः भोट (तिब्बत) देश के सीमांत --भोटांत--के निवासी ये भोटांतिक लोग न हूण हैं, और न तिब्बती। इनकी भाषा के जो अवशेष मिलते हैं, उनसे इन्हें किरात वंश का कहा जा सकता है, जो वश कि एक समय लद्दाख से लेकर आसाम, बर्मा और आगे तक फैला हुआ था। नैनसिंह इसी मिलम गाँव में १६ वीं सदी के द्वितीय पाद में पैदा हुए। उस समय शिक्षा का रिवाज कम था, लेकिन १८१५ ई० में अंग्रेजों के राज्य की स्थापना के बाद शिक्षा का जो प्रबन्ध हुआ था, उससे नैनसिंह ने लाभ उठाया था, और वह हिन्दी पढ़ना-लिखना सीख गये थे। हिमालय को आर-पार करने का शौक और साहस उन्हें पैतृक खून के साथ मिला था। इसीलिए वह केवल पश्चिमी तिब्बत के भीतर बकरियों पर सौदा ढोने से सन्तुष्ट नहीं थे। श्लागिनट्वाइट एक जर्मन भूगोलवेत्ता उस समय लद्दाख और काश्मीर में वैज्ञानिक अनुसंधान कर रहा था। तरुण नैनसिंह ने पता पाते ही १८५६-५७ ई० में लद्दाख काश्मीर में उसके साथ काम किया। यह कहने

की आवश्यकता नहीं, कि वह ऐसा समय था, जब कि अंग्रेजी राज्य के ऊपर भयंकर काली घटाएँ छाई हुई थीं। सारा बिहार और उत्तर प्रदेश विद्रोह की आग में जल रहा था; लेकिन पहाड़ों में उसका असर नहीं हुआ था। लद्दाख से लौटने के बाद नैनसिंह ने सरकार की ओर से खोले हुए एक हिन्दी स्कूल में प्रधानाध्यापकी कर ली, और छः-सात वर्ष तक वही काम करते रहे। अंग्रेजों को हिमालय पार के अनुसंधान के लिए गुप्तचरों की आवश्यकता थी, और नैनसिंह ने जब अपने लद्दाख के तजुर्बे की बात कही, तो १८६४ ई० में उन्हें चुन लिया गया, और सर्वे के यन्त्रों को इस्तेमाल करने की उन्हें विशेष शिक्षा दी गई।

१८६५ ई० में नैनसिंह काम पर जाने के लिए तैयार थे। उन्हें ल्हासा तक की यात्रा करके भिन्न-भिन्न स्थानों के अक्षांश और उन्नतांश के साथ अपनी यात्रा का विवरण देना था। आज से करीब सौ वर्ष पहले लिखे गए नैनसिंह के विवरण अब भी सरकार के सर्वे विभाग की आलमारियों में रखे हुए हैं। भिन्न-भिन्न भारतीय पर्यटकों की ढाई सौ के करीब रिपोर्टें आज भी उसी तरह वहाँ रखी हुई हैं। इनमें से बहुत कम की सामग्री को इस्तेमाल करके अंग्रेजी में कितने ही लेख और पुस्तिकाएँ तैयार की गई थीं, और वे भी अब दुष्प्राप्य हैं। नैनसिंह ने अपने गाँव से हो तिब्बत में होकर ल्हासा जाना चाहा, लेकिन जब उसमें सफलता नहीं मिली, तो वह नेपाल के रास्ते किरोङ् पहुँचे। तिब्बतवाले भी सजग थे और वह किसी अज्ञात कुलशील का अपनी सीमा के भीतर नहीं आने देना चाहते थे। किरोङ् से लौटा देने पर नैनसिंह हताश नहीं हुए। वह बेचारे जन्म से बौद्ध न होने के कारण लामाओं का बातों से परिचित नहीं थे, नहीं तो उन्हें कितने ही सुभीते प्राप्त हो जाते। यद्यपि इसका यह अर्थ नहीं था कि डाकुओं और लुटेरों के खतरे से वह त्राण पा जाते, या जरा भी सन्देह होने पर तिब्बती अफ़सर उन्हें क्षमा कर देते। लेकिन काम काम को सिखलाता

है। तजुर्बे ने उन्हें बतला दिया कि उनकी यात्रा के लिए सबसे बढ़िया उपाय है लामा (बौद्ध भिक्षु) के तौर पर तीर्थयात्रा के बहाने सब जगह घूमना। नैनसिंह को तब भी अपने साथ थर्मामीटर, दिग्दर्शक यन्त्र, सेक्स्टेंट तथा कागज-पत्र रखने थे, और इन चीज़ों को ऐसे रखना था, कि किसी को पता न लगे। पता लगने का मतलब मृत्यु छोड़ कर और दूसरा नहीं था और नैनसिंह तेरह-चौदह साल तक इस ख़तरे के साथ-साथ सिर पर मौत लिए हुए फिरते रहे। तिब्बत के बौद्ध श्रद्धालु या गृहस्थ एक हाथ में लाखों मन्त्र छपे कागजों से भरा प्रार्थना-चक्र (मानी) घुमाते रहते हैं, और दूसरे हाथ से माला भी फेरते रहते हैं। प्रार्थनाचक्र के एक बार घुमाने से उतना ही पुण्य मिलता है, जितना कि लिखकर उसके भीतर रखते हुए मंत्रों के उच्चारण से। एक बार के घुमाने में लाख-लाख मन्त्र के जप करने का पुण्य जब होना ठहरा, तो एक घंटे के फिराने में ही इतना पुण्य अर्जित हो जायगा, जिसके रखने के लिए आदमी के पास जगह नहीं हो सकती। लेकिन इतने से संतुष्ट न होकर कितने ही श्रद्धालु भक्त साथ ही माला की मनियों पर भी जप करते रहते हैं। तजुर्बे ने नैनसिंह को बतला दिया, कि प्रार्थनाचक्र और माला उनके लिए सब से काम की चीजें हैं।

नैनसिंह ने नोट किये हुये कागज़ और अक्षांश तथा उन्नतांश के नापने के यंत्र प्रार्थनाचक्र के भीतर रखे, और माला को कदम गिनने के लिये इस्तेमाल किया। माला में एक सौ आठ की जगह सौ मनियाँ थीं, जिनमें दसवीं मनियाँ औरों की अपेक्षा कुछ बड़ी थी। चलते वक्त उनका मुँह बराबर चलता रहता था, लेकिन किसको मालूम था, कि वह "मणि पद्मे हुं" नहीं बल्कि "एक-दो-तीन" गिन रहे हैं। एक बार के माला फेरने में एक हज़ार कदम की गिनती हो जाती थी। उन्होंने प्रार्थनाचक्र और माला लेकर एक बार तो तिब्बत में पूरब से पश्चिम तक १३१९ मील की यात्रा की, तिब्बत के बहुत से अज्ञात स्थानों का

निश्चित स्थान पहले-पहल नैनसिंह ने बतलाया। ल्हासा का अक्षांश भी उन्होंने ही निकाला। पहली यात्रा में वह ल्हासा जाकर तीन महीना रहे। वहाँ से लौटते वक्त ब्रह्मपुत्र के किनारे-किनारे वह मानसरोवर होते हुए लौटे।

१८६७ ई० में नैनसिंह तिब्बत की दूसरी यात्रा पर निकले। अब की बार वह सिंध की ऊपरी उपत्यका में थोक् जालुङ्ग की ओर १८६७ ई० मे पहुँचे, जहाँ की सोने की खानों में प्राचीन काल से काम होता चला आया है। शायद अंग्रेज समझते थे, कि वहाँ दूसरा दक्षिणी अफ्रीका उनके लिये तैयार है। नैनसिंह थोक् जालुङ्ग होकर पश्चिम तिब्बत की राजधानी गर्तोक् और वहाँ के बहुत पुराने तथा अनेक भारतीय सामग्रियों के अच्छे संग्रहालय थो-लिङ्ग विहार होकर कुमाऊँ लौटे।

ल्हासा और सोने की खानों की यात्राओं को समाप्त कर नैनसिंह तिब्बत से बहुत परिचित हो गये थे। अब नैनसिंह को अंग्रेज़ों ने तिब्बत से बाहर भेजना चाहा, और १८७३ ई० में जब अंग्रेज़ दूत डग्लस फोरसाइथ मध्य-एशिया (यारकन्द) की ओर जाने लगा, तो नैनसिंह भी उनके साथ थे। लेकिन मध्य-एशिया के लिये मुसलमान गुप्तचर अंग्रेज़ों के ज्यादा काम के हो सकते थे, इसलिये उन्होंने उन्हीं को रूसी तथा चीनी मध्य एशिया में अपने काम के लिये भेजा। नैनसिंह का क्षेत्र तिब्बत ही रहा था। अंग्रेजों ने १८७४ ई० की जुलाई में फिर उन्हें तिब्बत की ओर भेजा और अब की उन्होंने अपनी यात्रा लेह-लद्दाख से जो शुरू की, तो वह ल्हासा और आसाम में जाकर खतम हुई। नैनसिंह के चरण चिन्हों पर सभी जगह तो नहीं, लेकिन कहीं-कहीं उनसे आधी शताब्दी बाद इन पंक्तियों के लेखक को भी चलना पड़ा। इतने समय के भीतर तिब्बत में कोई भारी परिवर्तन नहीं हुआ था। अब भी गाँव छोड़कर पहाड़ी रास्तों में, विशेष कर डाँडों के पास पग-पग पर लुटेरों के हाथों प्राण जाने का खतरा रहता था। लेकिन

नैनसिंह के प्रयत्न से बने नक्शे ने आँखों को खोल दिया था, और हम कहाँ हैं, इसका मुझे पता रहता था। लेह से चल कर २१ जुलाई १८७४ ई० को नैनसिंह टाङ्से पहुँचे, जहाँ १९२५ ई० में इन पंक्तियो का लेखक भी पहुँचा था। सैकड़ों मील लम्बी, साँप की तरह टेढ़ी-मेढ़ी चली गई मन्-पङ्-गोङ् झील को देखा, जिसका कुछ भाग लद्दाख में और कुछ तिब्बत में है। नैनसिंह वहाँ से आगे बढ़े, और मानसरोवर से उत्तरवाली हिमालय श्रेणी के बारे में पता लगाने का सौभाग्य उन्हें प्राप्त हुआ, जिसका और भी अधिक अनुसंधान गत वर्ष (नवम्बर १९५२ ई०) में मृत महान् पर्यटक स्वेन्-हेडन ने किया है। लेकिन स्वेन हेडन सभी साधनों से सम्पन्न हो अनुचरों की एक पलटन लेकर गया था, जब कि नैनसिंह के लिये प्रार्थनाचक्र और माला फेरते पैर नापने को छोड़ और कोई रास्ता नहीं था। यदि वह घोड़े पर सवारी करते तो पैरों की नाप से मीलों की गिनती कैसे कर सकते? अब की वह तेङ्‌री नोर नामक महासरोवर के पास से होकर ल्हासा पहुँचे। ल्हासा से फिर ब्रह्मपुत्र के किनारे आकर उन्होंने पूरब का रास्ता लिया। शायद ब्रह्मपुत्र उपत्यका से थोड़ा-सा हटकर बने तिब्बत के प्रथम बौद्ध-विहार सम्-ये को उन्होंने देखा होगा। वहाँ से थोड़ी ही दूर पर ब्रह्मपुत्र के पार उन्हें चे-थङ् का कस्बा मिला, जो कि किसी समय तिब्बत के इस भाग की राजधानी थी और जहाँ अन्तिम भारतीय भिक्षु वनरत्न (१३८४-१४६८ ई०) में भी पहुँचे थे। वनरत्न भी अद्भुत घुमक्कड़ थे। उनका जन्म वारेन्द्र (पूर्व बंगाल) में हुआ था, बौद्ध धर्म के अध्ययन के लिये लंका में जाकर वह कितने ही सालों तक रहे। फिर नैपाल और तिब्बत के भीतर कई चक्कर लगाते रहे। लेकिन नैनसिंह का काम वनरत्न की तरह धर्म या मंत्र-तंत्र सिखलाना नहीं था। वह इस "अंधकार भूमि" के सम्बन्ध में बाहरी दुनिया को प्रकाश देना चाहते थे। चैथङ् से ब्रह्मपुत्र के किनारे-किनारे चलकर वह आसाम के भीतर ओदलगिरि में

१ मार्च १८७५ ई० को पहुँचे। अभी भी शायद इसका निश्चय नहीं हो पाया था, कि आसाम की ब्रह्मपुत्र वही नदी है, जो तिब्बत में चाङ्पा नाम से मशहूर है, और जिसका उद्गम मानसरोवर के पास है। लेकिन जहाँ तक पुराने भारतीयों और तिब्बत के लोगों का सम्बन्ध है, वह जानते थे कि सम्-ये का प्राचीन मठ उसी लौहित्य (ब्रह्मपुत्र) उपत्यका में है, जो कि आसाम से होकर बहती है। नैनसिंह की यह सबसे बड़ी यात्रा थी। और इस एक यात्रा में उन्होंने २७६ अक्षांश सम्बन्धी और ४६७ उन्नतांश सम्बन्धी आँकड़े प्राप्त किये। नैनसिंह ने अपने अनुसंधानों द्वारा केवल भौगोलिक आंकड़े ही नहीं दिये, बल्कि उन्होंने हर जगह के लोगों के रीति-रवाज, धार्मिक त्यौहार, व्यापार, उपज, जनसंख्या मठ, महंत और दूसरी चीजों के बारे में भी भारी जानकारी लिपिबद्ध की, लेकिन अभी वह सर्वे विभाग के पास सुरक्षित हैं। एक लेखक के अनुसार—"तिब्बत की राजधानी ल्हासा का जो सजीव वर्णन नैनसिंह ने किया है, वह पाठकों को उनकी अद्भुत प्रतिभा और सूक्ष्मदर्शिता से आश्चर्यचकित कर देता है।"

अंग्रेजी दासता के समय नैनसिंह जैसा प्रतिभाशाली साहसी व्यक्ति अपनी सेवाओं को गुप्तचर के तौर पर ही भेंट कर सकता था। देश के पतन पर व्यक्तियों को भी ऐसी अवस्था होना कोई आश्चर्य की बात नहीं है। अंग्रेजों ने नैनसिंह को पेन्शन दी, एक गाँव जागीर में दिया। अंग्रेजों की भौगोलिक सभा ने उनके अनुसंधानों के लिये सोने का तमगा और सोने की घड़ी दी। लेकिन, नैनसिंह की सेवाओं का पुरस्कार वह क्या दे सकते थे? उसे तो स्वतंत्र भारत को देना है, और सबसे बड़ा पुरस्कार यही हो सकता है, कि उनके हिन्दी में लिखे हुए विवरणों को प्रकाशित किया जाय।

महापर्यटक किन्थुप्

अंग्रेजों के साम्राज्य-विस्तार की लिप्सा १८वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध से लेकर सारी १६वीं सदी और २०वीं सदी में भी प्रथम महायुद्ध के पहले तक अत्यन्त तीव्र रही। यूरोप के व्यापारियों ने व्यापार के लिए दुनिया के अज्ञात देशों का ज्ञान प्राप्त किया। भारतीय संस्कृति के अग्रदूत भी एशिया, अफ्रीका और जावा-सुमात्रा की ओर गये। उन्होंने वहाँ के लोगों और भूगोल का ज्ञान प्राप्त किया। उनसे पहले भारतीय सार्थवाह वहाँ अपने सौदे को लेकर पहुँचे थे। इसमें शक नहीं कि इन भारतीयों को भी वहाँ के लोगों और भूगोल के बारे में ज्ञान प्राप्त करना पड़ा होगा और वह ज्ञान एक से दूसरे के पास पहुँचता रहा होगा। किन्तु, हमारे देश में अभी ऐसे वास्तविक ज्ञान के लेखबद्ध करने की जरूरत नहीं मालूम होती थी, इसलिए वह परम्परा मौखिक ही कितनी ही शताब्दियों तक चलती रही, जिसे लोग तोता-मैना की कहानियों की तरह कहते-सुनते रहे। यूरोपियन लोगों को पहले अपने व्यापार के लिए और फिर देश-विजय के लिए देशों के बिलकुल ठीक-ठीक ज्ञान की आवश्यकता थी। ५वीं-६ठी शताब्दी में भारतीय ज्योतिषी आर्यभट्ट (४५० ई०) और ब्रह्मगुप्त ने पृथ्वी के व्यास (१,५८१ योजन) का जो पता लगाया था, वह पृथ्वी के वास्तविक व्यास से (७,६१३ मील) बहुत ज्यादा अन्तर नहीं रखता। इसलिए यह तो मालूम ही था कि पृथ्वी का धरातल सीमित है। लेकिन भूगोलीय नक्शों के बनाने की ओर उनका ध्यान नहीं-सा था। १८वीं सदी से ठीक-ठीक नक्शों के बनाने की प्रक्रिया आरम्भ हुई। तब तक अंग्रेजों और यूरोप की दूसरी शक्तियाँ एशिया के कुछ भूखंडों पर अपनी विजय का झंडा गाड़ चुकी

थीं। अब उन्होंने नक्शों और भूगोल के साथ अज्ञात स्थानों के बारे में परिचय प्राप्त करना शुरू किया, ताकि उनका झंडा और आगे बढ़ता जाये।

१८वीं शताब्दी के अन्त में भारत के बहुत बड़े भाग पर अंग्रेजों का शासन या प्रभाव स्थापित हो चुका था, और १८१४ ई० के गोर्खा-युद्ध के बाद तो उसका विस्तार और भी अधिक हो गया। इस समय तक अंग्रेजों का ध्यान भारत के भूगोल और नक्शे की ओर भी ज्यादा हो चुका था। जब पंजाब भी अंग्रेजी राज्य में शामिल हो गया, तो १९वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध के आरम्भ से उन्होंने भारत की उत्तरी सीमा के आगे की खोज लेनी शुरू की। उन्हें मालूम था, कि उत्तर में बाल्तिक समुद्र से प्रशान्त महासागर तक फैला रूस अपनी बांहें दक्षिण की ओर बढ़ा रहा है। उस समय भूमि चाहे किसी की भी हो, यदि वह उसकी रक्षा के लिए शक्ति नहीं रखता, तो झंडा गाड़ने भर की देर थी और जमीन अपनी हो जाती थी। आस्ट्रेलिया और न्यूजीलैंड को इसी तरह अंग्रेजों ने लिया था। भारत की उत्तरी सीमा के बाहर भी ऐसे झंडा गाड़ने के योग्य प्रदेश थे। लेकिन अंग्रेजों की कभी तृप्त न होने वाली विजय की भूख का पता अब तक दुनिया के लोगों को लग चुका था। इसलिये कोई भी अंग्रेज या यूरोपियन उन जगहों में जाकर जीता नहीं लौट सकता था। इसलिए उन्होंने भारत के भिन्न-भिन्न भागों के लोगों को इस काम के लिए भेजना शुरू किया। स्वभावतः ये यात्रायें जान हथेली पर रखकर करनी पड़ती थीं। ऐसे ही जान हथेली पर रखकर यात्रा करने वाले किन्थुप् थे।

किन्थुप् निरक्षर थे। वह अपनी यात्राओं का विवरण केवल स्मृति से सुना सकते थे। जब तीन-तीन चार-चार वर्ष की यात्रायें समाप्त करने के बाद उनके बतलाये हुए विवरण की शुद्धता को आज देखा जाता है, तो दाँतों तले उँगली दबानी पड़ती है। किन्थुप् सिक्किम

के टशीडिंग गाँव में पैदा हुए। एवरेस्ट-विजेता तेनजिंग की तरह उन्होंने भी कुली के काम से जीवन का आरम्भ किया। वह दूसरे यात्रियों के अनुचर के तौर पर जाते रहे। इसी तरह वह दार्जिलिंग से ग्या-ला, सिगदोंग, चारी और निम्न चाङ्-पो गये। चाङ्-पो ब्रह्मपुत्र का ही तिब्बती नाम है, लेकिन किन्थुप् से पहले यह प्रमाणित नहीं हो सका था कि मानसरोवर के पास से निकलनेवाली तिब्बत की महानदी चाङ्-पो वही है, जिसे हम ब्रह्मपुत्र कहते हैं। यद्यपि जहाँ तक तिब्बती लोगों का सम्बन्ध है, उन्हें चाङ्-पो के ब्रह्मपुत्र (लौहित्य) होने में कोई सन्देह नहीं था। संस्कृत के पुराने ग्रन्थों में ब्रह्मपुत्र लौहित्य के नाम से ज्यादा प्रसिद्ध है। ८वीं शताब्दी के मध्य में चाङ्-पो की धार से कुछ मील हटकर बने तिब्बत के सबसे पुराने बौद्ध मठ (विहार) सन्ये के बनानेवाले जानते थे, कि हम लौहित्य नदी (छुवो लोहित) की कछार में इस विहार को बना रहे हैं।

ब्रह्मपुत्र और चाङ्-पो एक हैं, इसका पक्का प्रमाण लाने के लिए भारतीय सर्वे-विभाग के कप्तान हर्मन ने किन्थुप् को एक चीनी लामा के साथ कर दिया, जिसे चाङ्-पो के अन्तिम छोर पर जा चिन्हित लकड़ी डालने का आदेश हुआ था। यदि लकड़ी नीचे ब्रह्मपुत्र में पकड़ी जा सके, तो दोनों नदियों का एक होना सिद्ध हो जाता था, और यह श्रम किन्थुप् ने किया। चीनी लामा लिखा-पढ़ा था और यह आशा रखी जाती थी, कि ब्रह्मपुत्र और चाङ्-पो की एकता स्थापित करने के साथ वह हर जगह के भौगोलिक ज्ञान को नोट करके लायेगा। लामा को इसके लिए काफी रुपया भी दिया गया था। वह जानता ही था कि मैं ऐसा करके तिब्बत के साथ विश्वासघात कर रहा हूँ और उससे भी अधिक पर्दा खुल जाने पर मौत के मुँह में गये बिना नहीं रहूँगा, इसलिए उसने अनुसंधान की अत्यन्त कठोर यात्रा करने की जगह रुपया लेकर चम्पत हो जाना ही अच्छा समझा। उसे इतने से ही संतोष

नहीं हुआ। उसने किन्थुप् को दास बनाकर बेच दिया। बेचारे किन्थुप् कितने ही समय तक दासता का कठोर जीवन बिता अपने उद्देश्य में सफल हो चार वर्ष बाद लौटे। वह तिब्बत की ओर से होते हुए ब्रह्मपुत्र के किनारे ऐसी जगह पर पहुँचे, जहाँ से भारतीय सीमा और मैदान ३५ मील रह जाता था। अपने लौटने के दो वर्ष बाद स्मृति से किन्थुप् ने यात्रा का विवरण सुनाया। सर्वे-विभाग के एक नौकर नोबू ने उसे अंग्रेजी में अनुवादित किया, जिसका संक्षेप करके कर्नल टेनर ने सर्वे विभाग की १८८६-८७ ई० की साधारण रिपोर्ट में प्रकाशित किया।

किन्थुप की यात्रा

किन्थुप् से पहले निम्न-चाङ्-पो के बारे में मंगोल लामा शेरप् ग्यन्छो ने (१८५६-५८ ई०) अपनी यात्रा का विवरण सुनवाया था। वह २०-३० साल पहले वहाँ की कितनी ही जगहों में गया था। उसका विवरण बहुत ही संक्षिप्त था, जिसमें गुम्बाओं (बिहारों), तीर्थों और गाँवों के नामों के साथ कुछ इतिहास और कितने ही जंगली और ग्रामीण पशुओं की बातें थीं। चाङ्-पो के भूगोल पर उससे बहुत प्रकाश नहीं पड़ता था। यह काम अनपढ़ किन्थुप् ने किया।

किन्थुप् ने दार्जिलिंग से अपनी यात्रा शुरू करके ७ अगस्त, १८८० में डोङ् क्या ला (डाँडा) पार किया। ला (डाडा) पार कर दो दिन उन्हें तिब्बत के छो-ल्हामो (देवी सरोवर) में प्रतीक्षा करनी पड़ी, फिर ग्यांची के लिए सवारी का इन्तजाम हो सका। लोग जब उनसे पूछते, तो वह कह देते कि हमारा (चीनी) लामा, जिसने बाद में उसे बेच दिया, अपनी बहन से मिलने जा रहा है। छो-ल्हामो में सिक्किम के लाछुङ् और ग्यांची के व्यापारी अपने माल की अदला-बदली करते हैं। ग्यांची के व्यापारियों के साथ १० अगस्त के सबेरे किन्थुप् रवाना हुए और ६० मील की यात्रा सात दिनों में पूरी कर वह वहाँ पहुँच गये। ग्यांची

में कुछ दिनों रुककर २३ अगस्त को तीर्थयात्री बन पीठ पर खुरशिङ् (बीच में सामान डालने की लकड़ियाँ, जो पीठ पर ढोई जाती हैं) ले चल पड़े। डोंगकर में चीनी लामा का भांजा रहता था, वहाँ ठहरते १ सितम्बर को किन्थुप् ल्हासा पहुँचे। चीनी लामा ल्हासा के सेरा विहार में पढ़ा था, जहाँ ६ दिन रहकर उसने अपने मित्रों का भोज किया। अब उन्हें असली यात्रा शुरू करनी थी, अर्थात् ल्हासा की नदी क्यि-छू और चाङ्-पो के संगम (छूशुल) से चाङ्-पो के किनारे-किनारे नीचे की ओर चलना था। क्यिछू (ल्हासा) नदी से चमड़े की नाव (क्वा) पर लामा के साथ किन्थुप् छूशुल पहुँचे, जहाँ से दूसरी चमड़े की नाव लेकर वह दोर्जे थाग के सामने चाङ्पो के दक्षिणी किनारे पर अवस्थित केदेशो जोङ् पहुँचे—जोङ् गढ़ी को कहते हैं, जहाँ इलाके का मजिस्ट्रेट (जोङ्-पोन) रहता है। १९३० ई० में इन पंक्तियों का लेखक भी ल्हासा से उसी तरह चमड़े की नाव पर सम्ये जाते वक्त यहाँ पहुँचा था। २० तारीख को किन्थुप् अपने लामा के साथ उस छोटे से गाँववाले घाट पर उतरे, जहाँ से सम्ये विहार उत्तर-पूर्व में ४ मील रह जाता है। चे-थंग (किसी समय एक प्रभावशाली राजा की राजधानी) चाङ्पो के परले पार है। चीनी लामा वहाँ जो बीमार पड़ा, तो २० दिनों तक अपने एक चीनी मित्र के घर पड़ा रहा। इस समय किन्थुप् का काम था लामा के घोड़े के लिए घास काटना। सब काम करने पर भी किन्थुप् को बड़ी झिड़की खानी पड़ती। उन्हें तरह-तरह से तकलीफ दी जाती। किन्थुप् ने सब कुछ बर्दाश्त किया। चे-थंग से दोनों मक्मोई और रोङ् छुका-जोङ् गये। जोङ् से एक मील पर पाथंग ला (डांड़ा) से एक छोटी-सी नदी निकलती है, जो ल्हा ग्यरी (देवगिरि) होते चाङ्-पो में मिल जाती है। किन्थुप् ने यहाँ की भूमि को बहुत उर्वर बतलाया है। आजकल कम्युनिस्ट सेना और वहाँ के लोग चाङ्-पो की इस उर्वर तथा अपेक्षाकृत उष्ण भूमि को बड़े भारी

पैमाने पर खेतों के रूप में बदल रहे हैं। ल्हाग्यारी में भी जोङ् है और वहाँ उस समय पाँच सौ के करीब घर थे। ल्हा ग्यारी जोङ् में सोने की दो खानें हैं। पाथंग-ला चढ़कर वह जिक्क्योप में पहुँचे, जहाँ से दक्षिण और उत्तर-पूर्व की ओर डाला खम्पा के हिमाच्छादित पहाड़ दिखाई पड़ते थे। यहाँ से उत्तर-पश्चिम गोखा-ला था, जिसे पार कर समूये से ल्हासा जाता जाया है। १६ अक्तूबर (१८८०) को आठ मील चलकर वह रिशुर (पर्वतकोण) में जा सेरा के एक लामा के पास ठहरे। यहाँ भी किन्थुप् के साथ बड़ा बुरा बर्ताव किया गया। दस मील और जाने पर वह लमूदा पहुँचे, जहाँ के लोग कोंगों की कस्तूरी को ल्हासा ले जाकर बेचने का काम करते थे। समूये चे-थंग के पास चाङ्-पो के दोनों किनारे का प्रदेश कोंगों (कोङ्-बू) कहा जाता है। चाङ्-पो में आकर मिलनेवाली नदियों और किनारे के गाँवों को देखते २० अक्टूबर को वह अनी-गुम्बा (भिक्षुणी विहार) के पास होते नम्-जोङ् पहुँचे, जो कि अनी गुम्बा से १६ मील पर अवस्थित है। नम्-जोङ् एक महत्त्वपूर्ण स्थान और कोंगोंप्रदेश का प्रवेश-द्वार है। पूर्व की तरफ बाईं ओर चाङ्-पो को छोड़ते वह आगे बढ़े और २५ अक्तूबर के सबेरे वह कोंगों-ङोला को पार हुए। आगे उन्हें दोंग-कर्बोन् का जोङ् मिला, जहाँ एक वि गुम्बा भी थी, जिसमें पाँच सौ भिक्षु रहते थे। लोगों के घर जोङ् से कुछ नीचे समतल भूमि पर हैं। यहाँ चाङ्-पो उत्तरवाहिनी है। बीबिम्-ला पारकर वह चारी प्रदेश में पहुँचे, जो निम्न-चाङ्-पो का एक बहुत उर्वर इलाका है। वह चुङ्शोद् में ठहरे। उसके बाद तीन मील चलकर किन्-दुंग के छोटे गाँव में पहुँचे। यहाँ सीसा की खानें हैं। यहीं पर चारी, बग्चा-शिरिबू और ल्हासा के रास्ते आकर मिलते हैं। लामा के साथ किन्थुप् को अपने रहस्य को छिपाने के लिए भिक्षाटन करना पड़ता था। किन्दुंग से १५ मील जाने पर वह गुन्-गुम् में पहुँचे। आगे आस-पास के गाँवों में भिक्षाटन करते रास्ते के

लिए खाने-पीने की चीजें जुटाते बढ़ते गये। किन्-दुंग से १८ मील पर उन्हें बल-गुम्बा मिली और ३ मील और आगे १५ घरों का गाँव कुम्का। यहाँ तिब्बत के नंगे पहाड़ों की जगह वृक्षों से ढँके पहाड़ मिले, जिनके निचले भाग पर घास जमी हुई थी। कुम् से ४ मील आगे बुमकी-गोग् १० घरों का गाँव मिला, जहाँ से कुछ खाने-पीने की चीजें जमा कर वह फिर थुन चुंग लौट आये, जो कि किनदुंग-गुनगुम् के पास था। चीनी लामा यहाँ गृहपति की स्त्री से प्रेम करने लगा, जिसके लिये झगड़ा खड़ा हो गया और किन्थुप् ने २५ रुपया दण्ड दिलवाकर किसी तरह लामा को बचाया।

६ मार्च (१८८१) को थुन-चुंग से अब वह फिर आगे के लिए रवाना हुए और १२ मील चलकर रात के वक्त चाङ्-पो के किनारे सोये। चाङ्-पो के बांये किनारे-किनारे वह औरंग काज़ा जोङ् में पहुँचे, जहाँ से ४ मील पर उन्हें चाङ्-पो को पार करना पड़ा। इस जगह नदी चारों की ओर से आती दिखाई पड़ रही थी। नदी पार हो वह गोनूसा पहुँचे, जहाँ चाङ्-पो के उत्तरी तट पर एक गुम्बा (विहार) है। २ मील जाने पर देमू-जोङ् आया, जहाँ सौ घर तथा ३-४ सौ भिक्षुओं की एक गुम्बा है, जिसे छो ल्हाखङ् (धर्मदेवालय) कहते हैं। ११ मील और चलने पर उन्हें ग्या-ला मिला, जिसे पार कर गर्मियों में नोग्बू लूनग् का रास्ता जाता है। आगे ५ मील जाने पर उन्हें सिङ्-दोङ् मिला जहाँ पर तीन पुरानी गुम्बाओं के अवशेष हैं और एक जल-प्रपात भी है, जहाँ सौ फुट की ऊँचाई से पानी गिरता है।

सिङ्-दोङ् (सिंहमुख) से गोई छाङ् देफुक् ५ मील पर मिला। यहाँ से चाङ्-पो आध मील की दूरी पर है। चाङ्-पो के किनारे-किनारे आगे बढ़ने का रास्ता नहीं था, इसलिए वह फिर ग्या-ला लौट आये। यहाँ जोङ्-पोन से राहदानी लेनी पड़ी। जाड़ों में चाङ्-पो की धार कम हो जाती है, इसलिए चमड़े की नाव से उसे पार किया जा सकता है,

लेकिन गर्मियों में आर-पार टँगी रस्सी ही पार करने का साधन है। यहाँ से चाङ्-पो की धारा का अनुसरण करते आगे बढ़ना बहुत मुश्किल था। किन्थुप् और लामा को रास्तों के बारे में पता लगाने की जरूरत पड़ी। वह तीन दिन तक आगे और पीछे चलते उसे खोजते देफुङ्ग से १५ मील पर अवस्थित पेमा-कोयकुङ् में पहुँचे। यहाँ एक छोटी गुम्बा थी, जिसमें ७-८ भिक्षु रहते थे, कोई दूसरा घर नहीं था। गुम्बा से चाङ्-पो दो जरीब दूर है और इससे २ मील पर सेङ् छोइग्यल (सिंह-धर्मराज) नामक शिला से १५० फुट की ऊँचाई से पानी गिरता है। नीचे एक बड़ी झील है। जहाँ सदा इन्द्रधनुष बना करता है। ग्याला-जोङ् लौटकर उन्हें फिर गुरु देफुङ्ग में आना पड़ा, जहाँ से ६ मील जाने पर छो-लूवाखङ् होते देमुला (डांड़ा) की ओर चले, और अगले दिन पन्द्रह मील चल देमू-जोङ् से ३५ मील पर अवस्थित कोङ् बू लूनक मिला। यह १४० घरों का गाँव है और साथ ही यहाँ तीन गुम्बायें भी हैं। देमू-ला से जो नदी आती है, उसके बाँयें किनारे की भूमि पो-बा लोगों की है और दाहिने किनारे की देमू-जोङ् की लूनक् से आगे बढ़ते वह तांग जुक् जोङ् में पहुँचे। यहाँ पुल को पार करने के लिए जोङ्-पोन् (इलाके के मजिस्ट्रेट) से आज्ञापत्र लेना पड़ता है। लामा आज्ञा-पत्र लेने के लिए जोङ्-पोन् के पास गया और किन्थुप् पिस्तौल और अपने तीन कम्पासों को छिपाये पुल पर प्रतीक्षा करते रहे। चौथे दिन लामा आज्ञा-पत्र लेकर आया और फिर दोनों जोङ् पोन के पास गये। १४ मई, १८८१ को जोङ्-पोन् के आदमी ने आकर उससे कहा, कि जोङ्-पोन् का हुक्म है कि तुम जिन चीजों को देने का वचन दे चुके हो, उन्हें दे दो। किन्थुप् को अपना पिस्तौल और एक कम्पास देना पड़ा। २४ मई को लामा ने कहा कि मैं पो-युल् (पो प्रदेश) में किसी काम से जा रहा हूँ, दो तीन दिन में लौट आऊँगा। किन्थुप् ने दो महीने तक प्रतीक्षा की। इस समय उससे सिलाई का काम लिया जाता था।

फिर जोङ्पोन ने अपने घोड़ों के चराने पर लगा दिया। उस वक्त उसे अपने साथवाले आदमी से पता लगा कि लामा ने किन्थुप् को जोङ्-पोन् के हाथ में बेंच दिया है।

६ अक्तूबर १८८१ के सबेरे जोङ्-पोन् ने किन्थुप् को अपने गाँव में जाकर काम करने का हुक्म दिया। दो महीना काम करने के बाद जोङ्-पोन् ने किन्थुप् को गाँव से बुलाकर अपने पास काम लेना शुरू किया।

किनथुप् अब बराबर इसी फिक्र में रहते थे कि कैसे इस दासता से मुक्ति मिले। तीन महीना और बिताने के बाद ७ मार्च, १८८२ की शाम को वह भाग कर नमडिङ् फुकपा पहुँचने में सफल हुए। वहाँ से वह १२ मील पर अवस्थित पीय तोयलुङ् पहुँचे, जहाँ उन्हें बहुत से यात्री मिले। उनके पूछने पर कहा कि मैं जोङ्-पोन् के घर किसी काम के लिए जा रहा हूँ। पो-तुंग-दो छू नामक नदी को पुल से पार कर जैसे ही लोगों का साथ छूटा, वह बड़ी तेजी से दौड़ पड़े। कोङ्-बू-लूनक्के ऊपरवाले डाँड़े से आनेवाली नदी पो-तोयलुंग से १४ मील पर चाङ्-पो से मिलती है। दोनों नदियों के संगम से एक मील ऊपर नदी को पार कर किन्थुप् दोर्जे-जोङ् पहुँचे। यहाँ रास्ते बहुत खराब थे। गुम्बा में १०-१५ भिक्षु रहते थे। जंगली जानवर वहाँ कई तरह के थे। दोर्जे-जोङ् से एक मील पर चाङ्-पो को पार कर वह पूर्व की ओर चले फिर दोर्जे-जोङ् के पहाड़ पर चढ़ कर तीन मील आगे पंगो-जोङ पहुँचे। यहाँ ३० भिक्षुओं और एक अवतारी लामावाली चेनछुक् गुम्बा मिली, जहाँ दो दिन रह कर किन्थुप् ने इधर-उधर से माँग करके रसद पानी जमा किया।

चाङ्-पो पार करने के लिए यहाँ दोनों किनारों पर एक रस्सा टँगा हुआ है, जिस पर लटकते हुए आदमी नदी पार करता है। किंनकिंग से ८ मील जाने के बाद किनथुप् को फोबरोङ् (प्रासाद) मिला, जहाँ ४० भिक्षुओंवाली एक गुम्बा है। किनथुप् ने देखा कि चाङ्-पो यहाँ

से दक्षिण की ओर बह रही है। फोबरोङ् गुम्बा चाङ्-पो से एक मील पर थी। चाङ्-पो पार कर पूर्व की ओर जा वह तम्बू गाँव में पहुँचे, जहाँ से पाँच दिन में ५० मील जाने के बाद उन्हें कुनदू खोटांग मिला। कुनदू खोटांग में १५ घर और जोङ् हैं। पहाड़ के ऊपर चढ़ कर देखने से उत्तर-पूर्व में जा-युल और उत्तर-पश्चिम में पो-युल के इलाके मिलते हैं, पूर्व की तरफ भारत के पहाड़ और दक्षिण की तरफ चारी के पहाड़।

कुनदू खोटांग से होरा (७ मील) होते किन्थुप् चार मील आगे मरफुंग में पहुँचे, जहाँ एक ही गुम्बा में १५ भिक्षुणियाँ और ३० भिक्षु साथ-साथ रहते थे। यहीं उन्हें पता लगा कि जोङ्-पोन् के आदमी पकड़ने के लिए यहाँ आ रहे हैं। किनथुप् ने वहाँ के बड़े लामा का पैर पकड़ा और अपना सारा किस्सा सुनाया। लामा के पूछने पर उन्होंने यह भी बतलाया कि मैं चुङ्-छुङ् रा का रहनेवाला हूँ और तीर्थयात्रा के लिए जा रहा हूँ। पाँच दिन बाद जोङ् पोन् के आदमी आए। लामा ने किनथुप् के बदले में ५० रुपया देने की बात जोङ्-पोन् को लिख भेजी। दस दिन में फैसला हुआ। किन्थुप् साढ़े चार महीने तक लामा की चाकरी बजाते रहे। लामा अच्छा था। तीर्थयात्रा के लिए किन्थुप् एक महीने की छुट्टी लेकर वहाँ से फिर निकले और ६ मील चल यारदोंग गाँव में जा डोशौङ्-ला पार कर पातेंग पहुँचे। तीन मील और जाने पर चाङ्-पो आई, जिसे पार कर पूर्व के किनारे से चलते बां-पुंग (यारदुंग से ६ मील) पहुँचे, जहाँ जंगल थे— तिब्बत की भूमि वृक्ष वनस्पति-हीन है।

अब उनका सारा ध्यान चाङ्-पो और ब्रह्मपुत्र में एकता स्थापित करने की ओर था। बोपुंग से उत्तर-पूर्व ३ मील जाने पर उन्हें गीलिंग की गुम्बा मिली, जहाँ वह पाँच दिन रहे। गीलिग में ५० घर थे। अब उन्हें कप्तान हेर्मन के आदेश के अनुसार लकड़ी के कुन्दे चिन्ह लगाकर

चाङ्-पो में छोड़ने थे। पाँच दिन रहकर उन्होंने वज्र के आकार के एक फुट लम्बे ५०० कुन्दे तैयार किये। फिर अपनी पीठ पर लाद-लाद कर वह एक दुर्गम गुफा में ले गये। एक महीना चार दिन अनुपस्थित रहकर वह फिर अपने लामा के पास मरफुंग पहुँच दो महीने तक वहीं रहे। फिर चारी की तीर्थयात्रा के लिए दो महीने की छुट्टी ले कितनी ही जगहों में घूमते वह चारी की ओर चले। पोदो-सुमदो से होते हुए निपा गये, जहाँ से दो मील चलने के बाद कदोथांग मिला। फिर कितने ही डांडों को पार करते वह तकचुंग में पहुँचे। यहाँ एक पहाड़ पर चढ़कर उन्हें भारत का मैदान दिखलाई पड़ा। इस रास्ते में चारी की तीर्थयात्रा करनेवाले पवित्रता के ख्याल से कहीं नहीं थूकते। पड़ाव की जगहें बहुत साफ थीं। शंगू-ला पार करके उन्हें एक पड़ाव मिला, जिसके ऊपर से मेनछूना और लोयुल के गाँव दिखाई पड़ते थे। भारत का मैदान भी दक्षिण की ओर दिखाई पड़ रहा था। यहाँ जंगली जानवरों को छोड़ कर घोड़े या ढोर नहीं दिखलाई पड़ते थे। इस पड़ाव से आगे बढ़कर भूमि समतल मिली, फिर चौड़ा मैदान आया और एक छोटी-सी नदी। कुछ और नीचे उतरने पर उन्हें यूमे मिला, जहाँ की गुम्बा में १५ भिक्षु रहते थे। यहाँ शिकार करना मना था। किन्थुप् को यूमे-ला पार करना पड़ा। फिर वह चाजम् पहुँचे। फिर वह गोङ्-मा-ला पार करते उत्तर-पूर्व की दिशा में बढ़े। आगे उन्हें करम्-ला मिला, जिसकी जड़ में बहुत से घर और एक जोङ् था, जमीन उर्वर नहीं थी। १७ मील चलने पर वह डोक में ठहरे, जहाँ सिर्फ एक पशुपाल का घर था। आगे चलने पर लहारिङ्-बू की पहिली सोने की खानें मिलीं। लहारिङ् बू की दूसरी सोने की खानें डेन्लोरा में है, जो कि डोक से १५ मील पर मिला। यहाँ एक ध्वस्तप्राय ज़ोङ् और सोने के खनकों के तीन घर थे, जिनमें से प्रत्येक में २५ आदमी रहते थे। पूछने पर किन्थुप् ने बतला दिया, कि मैं ल्हासा तीर्थयात्रा के लिए जा रहा हूँ। फिर यालुंग

चेथंग समूये होते वह गोका-ला पार कर क्यिछु नदी के किनारे पहुँच गये, जहाँ से ल्हासा बहुत दूर नहीं था। वज्राकार कुन्दों को रख कर ल्हासा की इतनी कठिन यात्रा करने का कारण था। अब तक यह काम चीनी लामा को दिया गया था, और किनथुप् को सर्वे-विभाग को सूचना देनी थी। किन्थुप् ने ल्हासा में सिक्किम के काजी (मंत्री) से मुलाकात की और उनसे चिट्ठी लिखवा कर दार्जिलिंग कचहरी के दुभाषिया नमाछेरिंग के द्वारा भारतीय सर्वे के मुखिया के पास भेजनी थी, जो इस प्रकार थी--

"हजूर, जो लामा मेरे साथ भेजा गया था, उसने मुझे एक जोङ्-पोन् के हाथ में दास बनाकर बेच दिया और खुद सरकारी चीजों के साथ भाग गया। इसके कारण यात्रा बड़ी कठिन हुई। तो भी मैं, किन्थुप् ने कप्तान हर्मन की आज्ञा के अनुसार ५०० कुन्दे तैयार किये हैं और पेमाकोयछेन् में बेपुङ् से प्रतिदिन ५० कुन्दे तिब्बती पंचांग के छू-लुग् वर्ष के दसवें महीने की ५ से १५ तारीख तक डालने के लिए तैयार हैं।"

यह चिट्ठी दार्जिलिंग लौटती काजी की स्त्री अपने साथ ले गई और उसे यथास्थान पहुँचा दिया।

किन्थुप् अब चीन जानेवाले रास्ते से लौटे। कोङ् बुवा ला पार कर ३० मील दूर कोङ बू ग्याम्दो पहुँचे। आगे प्रायः ११२ मील की यात्रा करके चमनक में पहुँच उन्होंने चाङ्-पो को पार किया और फिर पेमा कोयछेन् की ओर लौटे, जहाँ पर ल्हासा और ग्याला-सिन्दोंग के रास्ते मिलते हैं। यहाँ से फिर वह अपने मुक्तिदाता लामा के पास पहुँचे, और उसकी सेवा नौ महीने करते रहे। लामा सेवा से बहुत प्रसन्न हुआ और उन्हें स्वेच्छानुसार जाने के लिए छुट्टी दे दी। किन्थुप् दर्जी का काम जानते थे। वहाँ किसी आदमी के यहाँ एक महीना सिलाई करके उन्होंने कुछ अन्न और नमक जमा किया, फिर वह बेपुंग ला दस

दिन रहे और पत्र में लिखे अनुसार ५०० कुन्दों को चाङ्-पो में डाला। इसके बाद फिर एक महीना काम करके भारत लौटने के लिए पाथेय खरीदा। अब उनकी यात्रा पंग गो दूदुंग (५ मील), कोर्वा (६ मील), मायुम (७ मील), सतोंग (७ मील), अंगी (८ मील), शिंगगिंग (७ मील), हंगगिंग (३ मील), पूगिंग (७ मील), से रिकर (८ मील) को हुई। इस यात्रा में कई जगहों पर उन्हें चाङ्-पो को आर-पार करना पड़ा। अगी से उनको अब हरे-भरे जंगलोंवाले पहाड़ मिलने लगे। शिंग-गिंग के इलाकेवाले लोग करीब-करीब नंगे हैं, वह केवल नीचे घुटनों तक एक कपड़े का टुकड़ा लपेटे हमेशा तलवार और तीर-कमान साथ में रखते हैं। पुरुष शिकारी होते हैं तथा खेती का काम औरतें और बूढ़े लोग करते हैं। चावल, मक्का और कोदो यहाँ अधिक होता है। हंग-गिंग चाङ्-पो के किनारे बसा हुआ है। यहाँ भी चावल और कोदो की खेती होती है। सूअर और गाय-बैल बहुत पाले जाते हैं। पुगिंग से रिकर आने में जंगल से ढके एक पहाड़ पर चढ़ना पड़ा। रिकर में १३० घर थे। अगले दिन ७ मील की यात्रा करके वह केती पहुँचे। यहाँ पर उन्हें कपास के खेत मिले। गाँव से दो मील पर चाङ्-पो बहती थी। वहाँ से १० मील चलने पर चाङ्-पो से एक मील दूर १४० घरों वाला शिमोंग गाँव मिला, जिसके पूर्व में सौ घरोंवाला मोंग री गाँव था। शिमोंग में गाँव के मुखिया ने किन्थुप् को गिरफ्तार कर लिया, लेकिन उन्होंने कुछ पैसा देकर मुक्ति पा ली। मोबिक (६ मील), तोपिन (८ मील), ओनलेट् (६ मील) आगे के गाँव थे। कपास और मक्के की खेती से मालूम ही है कि अब किन्थुप् गरम जगह में आ गये थे। तरपिन् तक पहुँचने में रास्ता उतराई-चढ़ाई का था। चाङ्-पो यहाँ से तीन मील पर बहती थी। समतल भूमि पर चलते अंत में वह ६० घरोंवाले ओनलेट् गाँव में पहुँचे थे। यहाँ के जंगलों में बाघ, चीता, रीछ आदि जानवर बहुत थे। गाँव से उत्तर की ओर एक हिमाच्छादित

पर्वत था, जिससे निकलनेवाली नदी मिरीपदम् में चाङ्-पो से मिलती है। मिरीपदम् में सौ घर थे। चाङ्-पो गाँव से ४ मील पर बहती थी। यहाँ यासेर, तरी और भारत के व्यापारी अपना माल बेचने के लिए आते थे। ओनलेट में मालूम हुआ था कि यहाँ से भारत की सीमा ३५ मील है।

ओनलेट् से आगे बढ़ना किनूथुप् के लिए सम्भव नहीं हुआ, और वे फिर वहाँ से पेमा कोयछेन् में लौट कर दो महीना रहे। अब उन्हें सिलाई करके ल्हासा होते दार्जिलिंग से पाथेय का प्रबन्ध करना था, फिर वहाँ से चल कर तीन महीने बाद वह अपने गाँव टशी डिङ् (सिक्किम) में पहुँचे। उनकी माँ मर गई थी। ढाई महीने तक उसके श्राद्ध के लिए वह रुक गये। १६ अक्तूबर, १८८४ के सबेरे वह फिर रवाना हुए और नमची-गुम्बा में नमछेरिंग से मिले, जो उन्हें लौटाकर लाछेन् और लाछुंग की उपत्यकाओं में ले गया। १७ नवम्बर (१८८४) को किनूथुप् दार्जिलिंग पहुँचे। इस प्रकार ७ अगस्त, १८८० से शुरू हुई किनूथुप् की यात्रा अब लगभग ४½ वर्ष बाद पूरी हुई।

× × ×

किनूथुप् अपठित थे। उनकी स्मृति का चमत्कार था, जो उन्होंने इतने विवरण के साथ अपनी यात्रा का वर्णन लिखवाया था। १६११-१२-१३ ई० में अंग्रेजों ने अपने राज्य की सीमा को आसाम के उत्तर-पूर्वी सीमान्त में मिशमी और अबोर जातियों के इलाकों के भीतर बढ़ाया, और वहाँ के बारे में बाकायदा अनुसन्धान किया। १६१२ ई० तक ग्याला से पदम् (ङमरो) तक की भूमि का ज्ञान उतना ही था जितना कि किनथुप् ने और मंगोल लामा शेरब् ग्यंछो ने बताया था। १८८४ ई० में पदम् के अबोरों के खिलाफ सैनिक अभियान भेजा गया था, जो डमरो के नजदीक तक पहुँचा था। नये अभियानों ने किनूथुप् की बातों की पुष्टि की। कप्तान ओक्स ने १६१४ ई० में प्रका-

शित अपनी रिपोर्ट में स्वीकार किया —"उस (किन्थुप्) की यात्रा के इस भाग का वर्णन प्रायः बहुत ही शुद्ध है और कभी-कभी तो इतने कम शब्दों में इतनी शुद्धतापूर्वक वर्णन करता है, जो चमत्कार-सा है।" फोबरोंग के पास किन्थुप् ने बतलाया था, कि चाङ्-पो यहाँ से दक्षिण की ओर बहती है, जो बिलकुल ठीक है। रिपोर्ट में लिखा गया था कि सेंगगेछायग्यल जलप्रपात करीब १५० फुट का है। वह टलासे निकलनेवाली छोटी धारा तथा ग्याला के सामने चाङ्-पो में गिरनेवाली छोटी धारा के किनारे अवस्थित है। किन्थुप् के ओनलेट तक पहुँचने में जो गाँव पड़े थे, वह आज की तुलना से निम्न प्रकार हैं—

१९११-१२ ई० की सर्वे	किन्थुप् (१८८३-८४ ई०)
अंग गिंग	अंगी
सिंग गिंग	शिग गिंग
पालिंग	हांग गिंग
रिकर	रिकर
पुगिंग	पुगिंग
गेत्ते	केती
सिमोंग	शिम (शिमोंग)
मोबुग् (गोबुग्)	मोबुग्
डलबुइंग	तर्पिन्
ओलोन् (मिलंग)	ओनलो (ओनलेट)
डमरो (पदम्)	मिरीपदम्

कप्तान ओक्स ने फरवरी १९१३ में ओलेन गाँव में किन्थुप् के बारे में पूछताछ की, तो गम्स तादङ् और यूबङ् दो आदमियों ने बतलाया कि जब हम बच्चे थे, तो एक मोन्पा सिमोंग गोबुक और दलबुइंग (तरपिन्) के रास्ते ओलोन् आया था। दोनों ये किन्थुप्

को स्वयं नहीं देखा था, बल्कि उनके बारे में सुना था किनूथुप् बिना किसी मदद के सब खतरों का सामना करते तिब्बत से २०० मील की यात्रा करके ओलोन् (ओनलेट) पहुँचे थे, जब कि १८६४ ई० के अंग्रेजी अभियान ने भारतीय मैदान से केवल २५ ही मील की यात्रा बड़ी मुश्किल से कर पाई थी। महान् पर्यटक की स्थिति १९१३-१४ ई० में बहुत खराब थी। वह सिलाई का काम करके किसी तरह जी रहे थे। इस समय अंग्रेजी शासकों को उनका ख्याल आया और उन्होंने थोड़ी-सी पेन्शन कर दी।

किनूथुप् के मुकाबले में तेनजिन नोर्गे कितने सौभाग्यशाली हैं ? लेकिन, यदि भारत स्वतन्त्र न होता, तो क्या अंग्रेज पर्वतारोही एवरेस्ट-विजय में तेनजिन को साझेदार बनने देते ?

किनूथुप् की यात्रावाले कितने ही स्थानों में आज से २४ वर्ष पहले मैं भी गया था, लेकिन मुझे न लौहित्य और चाङ्-पो की एकता के लिए दुर्गम यात्रा करनी थी, और न उतना कष्ट उठाना पड़ा। अब तो उसी रास्ते चीन से ल्हासा के लिए रेल की सड़क बनाई जा रही है, जिस पर हो कर कितने ही दिनों तक किनथुप् ल्हासा से दूसरी बार चले थे।

भदन्त बोधानन्द महास्थविर

वर्तमान शताब्दी में जब भारत में बौद्ध धर्म की चर्चा होने लगी तो मालूम होता था कि यह तो कोई एक नया आविष्कार है। मेरे अपने पितृग्राम में शताब्दियों से बौद्ध धर्म की एक पत्थर की मूर्ति डीह-बाबा के नाम से पूजी जाती थी; लेकिन मैं क्या, मेरी सात पीढ़ियों को भी पता नहीं था कि यहाँ एक महान् धर्म कभी खूब फूला-फला था। भारत के शिक्षित जनों में बौद्ध धर्म के प्रति जो स्नेह और सहानुभूति आज से पचास वर्ष पहले दिखाई देने लगी, वह कोई पराई चीज के प्रति बाहरी सहानुभूति नहीं थी, बल्कि अपनी आत्मा को फिर से पाना था। बौद्ध धर्म को जानकर उन्होंने कूप-मंडूकता दूर की और समझा कि हमारे पूर्वज आज की तरह समुद्र के खारे जल के स्पर्श-मात्र से अपने धर्म के गल जाने को नहीं मानते थे; बल्कि वे शताब्दियों तक सागर की भीषण तरंगों से खेलते हुए पृथ्वी के कोने-कोने में पहुँचे थे। उनके लिए न हिमालय के उत्तुङ्ग पर्वत दुर्लंघ्य थे, न गोबी या तक-लामकान के रेगिस्तान ही। उस समय के संस्कृतज्ञ दर्शन के विद्वान् बुद्ध के धर्म से अपरिचित नहीं थे; लेकिन उनकी संख्या ही कितनी थी, और वह भी जहाँ कहीं बुद्ध या उनके अनुयायियों का नाम आता, वहाँ पीढ़ियों से चली आई परम्परा के अनुसार घृणा प्रकट किए बिना नहीं रहते थे। हिन्दी-स्कूलों की पाठ्य-पुस्तकों में अव्वल तो हिन्दू-काल के लिए दो-तीन पृष्ठों से अधिक नहीं होते थे; लेकिन इसके लिए हमें उस समय के अंगरेज लेखकों का कृतज्ञ होना चाहिए कि वे बुद्ध का जिक्र किये बिना नहीं रहते थे, जो कोमल-हृदय अल्पवयस्क छात्रों पर बुरा प्रभाव नहीं डालता था।

बुद्ध भारत से खो गए थे। उनका संदेश सबसे पहले अंगरेज लेखकों द्वारा ही मिला—यद्यपि इस क्षेत्र में काम करनेवाले अंगरेजों से भी पहले तथा अधिक व्यापक रूप में रूसी थे, जिनके बाद जर्मन और फ्रेंच विद्वान् भी अंगरेजों से पीछे नहीं थे। रूसी विद्वानों को भारत को नजदीक से समझने का पहला पाठ बौद्ध धर्म द्वारा ही मिला। १६ वीं सदी में जब जारशाही साम्राज्य साइबेरिया की ओर फैलने लगा, तो रूसियों का सम्पर्क मगोलों से हुआ। वोल्गा की उपत्यका में भी बौद्ध मंगोलों से उनका सम्पर्क हुआ, और यह मालूम करने में देर नहीं हुई कि मंगोलों का जातीय धर्म बौद्ध धर्म है। रूसी ईसाई मिशनरी उन्हें इतना ही बतला सके थे कि बौद्ध धर्म एक तरह का काफिर धर्म है, जिसके देवताओं की मूर्त्तियाँ कला और सौंदर्य में घटिया नहीं होतीं, किन्तु उनका मानसिक तल भूत प्रेत और वृक्ष-वनस्पति पूजनेवाले आदिम मानवों से बहुत ऊँचा नहीं है। लेकिन उनकी यह धारणा बहुत जल्दी दूर हो गई जब रूसी मनीषियों ने अपने प्रतिद्वन्द्वी मंगोलों को भाषा पढ़ते हुए उनके धर्म और दर्शन का अवलोकन किया। उसी समय उन्हें यह भी मालूम हो गया कि मंगोलों का यह धर्म तिब्बत से नहीं बल्कि भारत से आया है—यद्यपि मगोलों की धर्म-भाषा तिब्बती है। इसके बाद तो रूसी तिब्बती, चीनी और संस्कृत में उपलब्ध विशाल बौद्ध साहित्य में खूब गोता लगाने लगे और उससे बहुत प्रभावित भी हुए। रूसी संस्कृतज्ञों में एक बड़ी विशेषता यह देखी जाती है कि अकदमिकों (चोटी के विद्वानों) ने बौद्ध धर्म के साथ केवल सहानुभूति ही नहीं रखी, बल्कि अपने को बौद्ध घोषित करने में भी संकोच नहीं किया। रूस के दिग्गज संस्कृतज्ञों के अन्तिम प्रतिनिधि डॉ० श्चेरबात्स्कीने जहाँ अपनी लेखनी द्वारा बौद्ध दर्शन के गम्भीर भावों को जिज्ञासुओं के लिए सुगम कर दिया, वहाँ पीतरबुर्ग (लेनिनग्राद) के सुन्दर बौद्ध बिहार के बनवाने में

भी उनका और उनके मित्र महान कलाकार निकोलाई रोरिक का मुख्य हाथ था।

जब रूसी महाविद्वानों और अर्नाल्ड-जैसे अंगरेज कवियों को उस महापुरुष के विचारों ने अपने सामने सिर झुकाने में सफलता पाई, तो यह बड़े आश्चर्य की बात होती, यदि भारतीय विद्वान २० वीं सदी में भी अपने कुछ पीढ़ियों के पूर्वजों की तरह आँख मूँदे कान में रुई डाले पड़े रहते। मुझे बुद्ध के उच्च जीवन और महान दर्शन से बहुत प्रेरणा मिली, बल्कि मैं कह सकता हूँ कि मेरी विचारधारा का कितना ही मुख्य अंश बुद्ध से प्रभावित है। किन्तु स्कूल में पढ़ाई जानेवाली किसी पुस्तक की कुछ पंक्तियों के अतिरिक्त पहले-पहले मुझे बुद्ध की ठोस सत्ता का परिचय १६१० में हुआ। १६१० के शरद् में प्रथम साहसपूर्ण घुमक्कड़ी करके जब मैं बदरीनाथ से बरेली पहुँचा, तो वहाँ धर्मशाला में एक गेरुआधारी साधु खुन्नीलाल शास्त्री के दर्शन का अवसर मिला। उन्होंने बौद्ध धर्म के बारे में संस्कृत में लिखा एक छोटा-सा पैम्फलेट भी दिया। किन्तु उससे केवल थोड़ा सा कौतूहल जगकर रह गया। अगले साल मै अपने जन्मग्राम से सारनाथ के रास्ते बनारस जा रहा था। वहाँ पीले कपड़ेवाले कुछ बर्मी साधु वंदना कर रहे थे। उन्हें न हमारी भाषा मालूम थी, न मुझे उनकी। उन्होंने 'चक्खु, चक्खु' कहकर कुछ अधिक बतलाने की कोशिश की; लेकिन मुझे न यही मालूम था कि चक्खु चक्षुका पाली-रूप है और न यही कि चक्षु से उनका अभिप्राय लोकचक्षु (दुनिया की आँख) बुद्ध से है। आगे चलने पर जब आर्यसमाज के विचारों ने मुझ पर प्रभाव डाला, तो बुद्ध की उदार शिक्षा के बारे में भी एक-दो उड़ते हुए वाक्य सुनाई पड़े, जिसके कारण मेरी जिज्ञासा उधर और बढ़ी।

उस समय बौद्ध ग्रंथ हिन्दी में एक तरह से बिल्कुल थे नहीं। हिन्दी-भाषा-भाषी प्रान्तों में बौद्धों का अभाव होने से किसी से मिलकर

जिज्ञासा की पूर्त्ति नहीं हो सकती थी। सबसे पहले उसके बारे में मन भरकर बात-चीत करने का मौका १९१७ के आस-पास मिला, जब कि मै एक तरुण आर्यसमाजी के तौर पर जाकर लखनऊ के आर्य समाज में ठहरा था। वहीं किसी ने एक बौद्ध भिक्षु का नाम बतलाया और मैं संध्या-समय उन भिक्षु के पास गया। यही थे भदन्त बोधानन्द महास्थविर। उन्होंने बहुत देर तक मुझसे बौद्ध धर्म के बारे में बात की और मेरे प्रश्नों का उत्तर दिया। आर्यसमाज में अब भी बहुत-से विद्वान थे, जो स्वामी दयानन्द के गुण-कर्म-स्वभाव से वर्ण-व्यवस्था के सिद्धांत में स्वभाव की आड़ लेकर जन्मना ब्राह्मण होने के कट्टर पक्षपाती थे। १९१५ से ही मैं इस विषय में कट्टर नास्तिक था और जात-पाँत को किसी सूरत में भी मानने के लिए तैयार नहीं था। इसके लिए मुझे आर्यसमाजी ब्राह्मण पंडितों से 'कुलांगार' की उपाधि भी मिलती रहती थी। भदन्त बोधानन्द की बातों से मुझे जहाँ अपने विचारों के लिए पुष्टि मिली, वहाँ साथ ही बुद्ध के बारे में भी कितनी ही बातें सुनने का अवसर मिला। शायद मैं उनके पास एक से अधिक बार गया। उन्होंने बतलाया कि बौद्ध धर्म पर अधिक पुस्तकें पाली में हैं, थोड़ी-सी बंगला में भी मिल सकती हैं। मैंने उनसे पता लेकर कुछ पुस्तकें मँगाईं और अपने संस्कृत-ज्ञानकी सहायता से पाली पुस्तकों को पढ़ने का स्वतः प्रयास भी किया, जिसमें बिल्कुल असफल भी नहीं रहा। महास्थविर द्वारा बौद्ध धर्म का मुझे प्रथम परिचय मिला। उनके बाद तो घनिष्ठता बढ़ी, और वे मेरे आत्मीय हो गए। मैं जब भी लखनऊ जाता, यह हो नहीं सकता था कि मैं उनके यहाँ छोड़कर कहीं अन्यत्र ठहरूँ। अधिक दिन हो जाने पर मिलने के लिए वे व्याकुल हो जाते। अनेक बार मैंने उनके गम्भीर चेहरे को आँसुओं से सिक्त होते भी देखा। वे बड़े ही कोमल-हृदय थे; लेकिन जहाँ किसी ने वर्ण-व्यवस्था या जात पाँत की अच्छे शब्दों में चर्चा की कि मानो सोते सिंह को

जगा दिया। फिर वे मनु से लेकर तुलसीदास तक के श्लोकों और चौपाइयों को उद्धृत करके इस देश के अधःपात के सबसे बड़े कारण वर्ण-व्यवस्था की धज्जी उतारने लगते।

बोधानन्द महास्थविर आधुनिक भारत के उन थोड़े-से बौद्धों में हैं, जिन्होंने बुझे दीपक को फिर से जलाने का प्रयास किया। उनसे पहले कुंवर सिंह के नेतृत्व में १८५७ ई० में स्वतन्त्रता युद्ध में लड़े महावीर बाबा ने बुद्ध-निर्वाण-भूमि (कुशीनारा) में धूनी रमाई। उनके साथ काम करने के लिये एक तरुण बर्मी भिक्षु भारत आये, जो महास्थविर चन्द्रमणि या चन्दा बाबा के नाम से अभी भी हमारे बीच में मौजूद हैं। बोधानन्द महास्थविर ने उत्तर प्रदेश में मेरे जैसे बहुतों के पास तक बुद्ध का सन्देश पहुँचाया और मृत्यु के समय तक उन्होंने जात-पाँत के मायाजाल से देश को बाहर निकालने का प्रयत्न किया।

महास्थविर जन्म से बंगाली ब्राह्मण थे। ब्राह्मण होते हुए भी ब्राह्मण-धर्म की सर्वमान्य वर्ण-व्यवस्था का उनका इतना कट्टर विरोधी होना भी उल्लेखनीय बात थी। उनकी अवधी को सुनकर कोई कह नहीं सकता था कि वे अवध से कहीं बाहर के हैं। भारतवर्ष के बहुत से स्थानों में घूमते हुए उन्होंने कितनी ही भाषाओं का परिचय प्राप्त किया और अवध को तो अन्तिम अड़तीस वर्षों के लिये अपना कार्यक्षेत्र ही बना लिया था। उनका पहला नाम मुकुन्दप्रकाश लाहिड़ी था। उनके पिता दीनबन्धु लाहिड़ी तथा माता सुवर्णा देवी मिर्जापुर जिले के चुनार कस्बे में थे, जब कि सितम्बर १८७४ में उनके यहाँ मुकुन्द पैदा हुए। अभी मुकुन्द बच्चे ही थे कि उनके माता-पिता मर गये और उनकी मौसी उन्हें अपने साथ बनारस ले गईं। बनारस में जल्दी ही उनका झुकाव साधु-संन्यासियों की संगत और जीवन की ओर हो गया और वे उदासी बन साधुओं के कपड़े पहन कर चारों खूँट घूमने निकल पड़े। भारत के कितने ही प्रदेशों में वे तीर्थ-यात्रा करने लगे। इसी सिलसिले

में वे पंजाब गये। सिन्ध में उन्होंने अपनी जवानी के बारह साल बिताये। साधु होने पर मुकुन्द प्रकाश का नाम बोधानन्द हो गया।

१८९६ में उनकी उम्र २२ वर्ष की थी और उस समय वे बनारस में थे। इसी साल भीषण अकाल पड़ा था। उनके करुणापूर्ण हृदय में अकाल-पीड़ितों की सेवा का खयाल क्यों न पैदा होता? इस समय तक वे जात-पाँत के सख्त शत्रु बन चुके थे। जिस धर्म में मनुष्य कुत्ते से भी बदतर माना जाता हो, उसके साथ कोई भी संबंध रखना उन्हें असह्य मालूम होता था। ईसाइयों ने अकाल-पीड़ितोंकी सेवा के लिए जगह-जगह अपने आदमी भेजे। उनके इस पुनीत काम में स्वामी बोधानन्द ने भी सहायक होना पसन्द किया। वे शायद यह भी सोचने लगे थे कि अब उनके लिए ईसू मसीह की शरण में जाकर ही शान्ति मिलेगी। इस समय की अपनी मानसिक अवस्था के बारे में उन्होंने लिखा था—"मैं स्वभाव से ही सत्य का खोजी होने के कारण विद्वानों और साधु-महात्माओं की सेवा और सत्संग में रहता था। मैंने हिन्दू-शास्त्रों और हिन्दू संस्कृति का अध्ययन किया, किन्तु मुझे शान्ति न मिली। इसका मुख्य कारण यह है कि हिन्दूधर्म में एक अति भीषण वर्ण-व्यवस्था है, जिसके कारण छूतों तथा अछूतों की अवस्था बड़ी दयनीय है। उन्हें धार्मिक, सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक और शिक्षा सम्बन्धी जीवन के उन्नति विकास के सभी क्षेत्रों में नीचे गिराया गया है—उनके जन्मसिद्ध मानवीय अधिकारों और उच्चाकांक्षाओं को बड़े कौशल और हृदयहीनता के साथ कुचला गया है। उच्च जाति के हिन्दू लोग वंशानुक्रम से हजारों वर्षों से जन्मगत वर्ण व्यवस्था द्वारा उनके श्रम से अनुचित लाभ उठा रहे हैं। इसे देखकर मेरा हृदय अत्यन्त दुखित और द्रवित हो गया। सन् १८९६ ई० में जब मैं दुर्भिक्ष-पीड़ितों में सेवा का काम कर रहा था, उसी समय सौभाग्य-वश काशी में लंका के बौद्ध भिक्षुओं से मेरी भेंट हो गई। उनके

सत्संग से मैंने बौद्ध धर्म का अध्ययन किया। मुझे ज्ञात हुआ कि वर्तमान हिन्दुओं में जितने सार्वजनिक लोकहितकारी तत्त्वों का समावेश है, उन सबका मूल-स्रोत बौद्ध धर्म है।"

काशी के पास सारनाथ वही स्थान है, जहाँ पर बुद्ध ने धर्मचक्र-प्रवर्त्तन (सर्वप्रथम उपदेश) किया। इसलिए वहाँ बौद्ध आते जाते थे। लंका के कुछ बौद्ध भिक्षु थियोसोफी-सम्मेलन में निमंत्रित होकर आए थे। थियोसोफी से प्रभावित होने के कारण वे ईसा को भी महापुरुष मानते थे। उन्होंने बोधानन्द को बतलाया कि बुद्ध की अपनी शिक्षा में वे सभी गुण मौजूद हैं, जिनकी तुम खोज में हो। उनके सत्संग से बोधानन्द ने जल्दी ईसाई बनने का निश्चय छोड़ दिया और उनके कथनानुसार पहले 'वसलसुत्त' (वृष्टलसूत्र) को पढ़ा, जिसमें छूत-अछूत के जातिगत विचारों का बुद्ध ने खण्डन किया है। 'वसलसुत्त' पढ़ने के बाद उन्हें मालूम हो गया कि मुझे ईसाई बनने की अब कोई आवश्यकता नहीं, मैं बुद्ध के उपदेशों द्वारा अपने देश-भाइयों का अधिक कल्याण कर सकता हूँ। इसके बाद बौद्ध,धर्म-प्रभावित साधु के तौर पर उनका अध्ययन और पर्यटन जारी रहा। इसी सिलसिले में वे लखनऊ पहुँचे। बौद्ध धर्म के सम्पर्क में आने के १८ वर्ष बाद उन्होंने कलकत्ता जाकर १६१४ में चट्टग्राम-निवासी भदन्त कृपाशरण महास्थविर से भिक्षु-दीक्षा प्राप्त की। भारत में अभी भिक्षु-दीक्षा के लिए स्थायी स्थान (सीमा) दुर्लभ थे, इसलिए कलकत्ते में गंगा के भीतर नौका के ऊपर बर्मा, लंका और चट्टग्राम के भिक्षुओं ने उन्हें संघ में दीक्षित किया। उस समय प्रथम बौद्ध धर्मदूत अनागारिक धर्मपाल भी वहाँ मौजूद थे।

भिक्षु बनकर बोधानन्द जी फिर लखनऊ लौट आए। इसके बाद का ३८ वर्षों का उनका जीवन शोषित-दलित जातियों में आत्म-चेतना लाने में बीता। अपनी तीखी आलोचनाओं के कारण उन्हें लोगों का

विरोध भी सहना पड़ा, लेकिन उनकी लगन को देखकर विरोधी भी सम्मान-प्रदर्शन किए बिना नहीं रहे। मौखिक प्रचार के अतिरिक्त उन्होंने हिन्दी में 'मूल भारतवासी और आर्य' तथा 'बौद्ध-धर्मोपद्धति' नामक दो पुस्तकें भी लिखीं। लेकिन वे कलम के धनी नहीं थे। उनका समालाप बड़ा ही सुन्दर और ज्ञानवर्द्धक होता था। लखनऊ में रिसालदार बाग का बौद्ध विहार जहाँ उनके अथक परिश्रम और स्नेह का प्रतीक बनकर तैयार हुआ, वहाँ उनकी चालीस वर्षों से जमा की हुई भिन्न-भिन्न भाषाओं की पुस्तकें भी कम महत्व नहीं रखतीं। उपदेश के अतिरिक्त वे सदा लोगों को पढ़ने की प्रेरणा देते। पुस्तकों को वे मधु-मक्खियों की तरह जतन से जमा करके सुरक्षित रखते थे। इतने परिश्रम से बनाए विहार और पुस्तकालय की रक्षा का भी उनको ध्यान था, इसलिए उन्हें महाबोधि सोसाइटी के तत्वावधान में दे दिया। वे चाहते थे, हमारा काम आगे भी चले। इसके लिए उन्होंने लंका के एक बौद्ध-पुत्रको शिष्य बनाकर अपने काम का भार सौंपा। प्रज्ञानन्द ने अपने वृद्ध गुरु की सेवा बड़ी लगन से की। महास्थविर यद्यपि बहुत ही शीतल स्वभाव के थे, लेकिन कभी-कभी उबल भी पड़ते थे। ऐसे पुरुष की एकांत सेवा करना प्रज्ञानन्द-जैसे तरुण का ही काम था।

महास्थविर ७८ वर्ष के थे, जब कि नासूर की भयंकर बीमारी ने उन्हें आ दबाया। लखनऊ मेडिकल कॉलेज में लाभ न होते देख उन्हें कलकत्ता ले गए, लेकिन मृत्यु की औषधि क्या हो सकती है? रविवार, ११ मई, १९५२ को सबेरे भदन्त बोधानन्द महास्थविर ने अपने जीवन को समाप्त किया और कितनों को रुलाकर!

मौलवी महेशप्रसाद

उस दिन समाचार पत्र में पढ़ा कि प्रयाग में मौलवी महेश प्रसाद का देहान्त हो गया। सचमुच ही मृत्यु आयु को नहीं देखती। पिछली बार जब मेरी उनसे भेंट हुई थी, उस समय किसको पता था कि भाई साहब का यह आखिरी दर्शन है। ३७ वर्ष पहले १६१५ ई० में मुझे उनके घनिष्ठ सम्पर्क में आने का मौका मिला था। भारत का एक चक्कर लगा आने से मैं उस समय घुमक्कड़-धर्म में दीक्षित हो चुका था, देश-काल का कुछ ज्ञान भी रखता था। लेकिन अधिकतर संस्कृत का विद्यार्थी होने के कारण देश-काल में देश की स्वतन्त्रता का ज्ञान भी आवश्यक है, इसका मुझे पता ही नहीं था। आर्यसमाज उस समय एक अच्छी आदर्शवादी संस्था थी। उसके कुछ ही महीनों के परिचय के बाद मुसाफिर विद्यालय, आगरे का नाम सुनकर मैं भी आर्य-मिशनरी बनने के खयाल से वहाँ पहुँचा। उस समय विद्यालय की पढ़ाई खतम करके भाई महेश प्रसाद वहाँ मुख्य अध्यापक थे। मुख्य अध्यापक क्या, वस्तुतः वे ही एकमात्र अध्यापक थे, जो अरबी पढ़ाने के साथ-साथ विद्यालय की सारी देख-भाल करते थे। संस्कृत पढ़ाने के लिए दो घंटे के वास्ते एक पंडित जी चले आते थे, जिनसे मुझे कुछ लेना देना नहीं था; क्योंकि विद्यालय में पढ़ाई जाने वाली संस्कृत से मैं कहीं अधिक पढ़ चुका था।

भाई साहब ने डेढ़ साल में जो अरबी मुझे पढ़ाई, उसका अधिक उपयोग मैं नहीं कर सका; क्योंकि आगे के कार्यक्षेत्र का उसके साथ उतना सम्बन्ध नहीं था। किन्तु आदर्शवाद के संसार को देखने के लिए उन्होंने एक ऐसी दृष्टि या गति दी, जिसका प्रभाव मेरे सारे जीवन के लिए अमिट रहा। वह प्रथम महायुद्ध का समय था।

युद्ध का प्रभाव देश के आर्थिक जीवन पर बहुत पड़ा था—यद्यपि उतना नहीं जितना कि द्वितीय महायुद्ध में देखने में आया। मुसाफिर-विद्यालय में अरबी और संस्कृत के अध्ययन से जितना वहाँ के विद्यार्थियों का सरोकार था, उससे कहीं अधिक हमें राष्ट्रीयता का पाठ पढ़ने को मिला, जिससे हमारे हृदयों में ऐसा अपूर्व उत्साह पैदा हो गया था कि किसी तरह की भी कुर्बानी हममें से अधिक तरुणों के लिए अदेय नहीं थी। लेकिन अगले जीवन पर समय और परिस्थितियों ने भी अपना प्रभाव डाला। आज मुसाफिर-विद्यालय में उस समय एकत्रित हुई तरुण मूर्तियाँ बचे हुए लोगों के जीवन भर के वास्ते मानस-प्रतिबिम्ब-मात्र रह गई हैं। हमसे ऊपरी कक्षा के तरुण श्री रामगोपाल बृहत्तर भारत में जाने के लिए तैयारी कर रहे थे, लेकिन असहयोग के समय से पहले ही प्लेग में उनका देहान्त हो गया। उनमें कितना त्याग था, साथियों के लिए कितना सौहार्द था, इसे शब्दों में कहना मुश्किल है। भाई साहब जब अपनी अरबी की शिक्षा पूर्ण करने के लिए लाहौर के ओरियण्टल कालेज में भर्ती हुए, उस समय राम-गोपाल जी अपने गुरु की दिलो-जान से सेवा करते रहे। हमारा सहपाठी चलता-पुर्जा आफत का पर-काला अभिलाष भी आज नामशेष रह गया। अभिलाष चलता पुर्जा बुरे अर्थों में नहीं था, बल्कि उसकी बात चीत, उसके रहन-सहन और हर गति-विधि में एक प्रकार का अनोखापन, अल्हड़पन और आकर्षण था, जो आदमी को बहुत जल्द मोह लेता था। वह अरबी-संस्कृत पढ़कर आर्यसमाज का उपदेशक बनने के लिए नहीं पैदा हुआ था। इसीलिए वह अपने पूरे पाठ्य-विषय को समाप्त भी न कर सका। कल पुर्जे को देखना सँभालना उसकी स्वाभाविक रुचि थी। घड़ी बनाना, फोटो खींचना तो उसने खेल-खेल में सीख लिया था। फिर सनक सवार हुई, तो मोटर-ड्राइवरी ही नहीं, बल्कि मैकेनिकल इंजीनियर का

प्रमाण पत्र भी ले लिया। उसकी बड़ी इच्छा थी विमान-चालक बनने की, लेकिन प्रथम विश्व-युद्ध के तुरंत बाद ही अभी भारत में विमानों का बहुत अभाव था। फिर अंग्रेजों के दास भारत में प्रतिभा के मूल्य की बात ही कौन पूछता, जब कि आज स्वतंत्र भारत में भी कितनी ही प्रतिभाओं को हम भटकते देख रहे हैं! वह अभिलाष भी चल बसा। इसी तरह और भी साथी अब नहीं रहे। उस समय के मित्रों और मौलवी महेश प्रसाद के शिष्यों में अब भाई मुरारी लाल वैद्य, मुरारी लाल शास्त्री और पं० भगवती प्रसाद ही बच रहे हैं। यह कोई आश्चर्य की बात नहीं है। अगली पीढ़ियों के लिए पिछली पीढ़ियों को स्थान खाली करना ही पड़ता है। बीती पीढ़ियों के सहस्रांश का स्मरण भी एक-दो पीढ़ियों तक नहीं पहुँच पाता। दुनिया में विस्मृति सबसे ज़बर्दस्त चीज है। उससे शिकायत भी करने की आवश्यकता नहीं क्योंकि नई पीढ़ियों को अपने जीवन के हजारों महत्वपूर्ण काम रहते हैं, वे पिछली पीढ़ियों को कहाँ तक स्मरण करती रहेंगी?

मौलवी महेश प्रसाद का जन्म १७ नवम्बर, १८६० को इलाहाबाद-जिले के फतेहपुर गाँव में हुआ था और मृत्यु २६ अगस्त, १६५१ को रसूलाबाद (प्रयाग) मे हुई—अर्थात् मृत्यु के समय वे लगभग ६१ वर्ष के हो गए थे। मृत्यु से कुछ ही समय पहले लिया गया यह फोटो जब मैं उस चित्र से मिलाता हूँ; जो मेरे मानस-पटल पर १६१५-१६ में अंकित हुआ था, तो कुछ हल्के-से बुढ़ापे के चिन्हों के अतिरिक्त बहुत कम अंतर पाता हूँ। वही ओठों पर झलकती हुई हल्की-सी मुस्कराहट, वही स्नेह और सहानुभूति से भरी चमकती हुई आँखें, वही सीधा-सादा कुर्ता—हाँ, गांधी टोपी का अभी रिवाज नहीं था। लेकिन गांधी-युग के आरम्भ होने से पहले ही वे स्वदेशी के भक्त थे और हाथ के कते या कर्घे के बुने मोटे-झोटे कपड़ों को पहनते थे। उनकी सादगी सदा अक्षुण्ण रही, लेकिन इस सादगी में दिखावे का

नाम नहीं था। तरुणाई में भाई साहब को किसी समय शायरी का शौक भी हुआ था। उस वक्त उन्होंने अपना उपनाम 'साध' रख लिया था। मैंने उनकी उर्दू की दो-एक कविताएँ ही छपी देखीं। लेकिन मालूम होता है यह जवानी की सनक-भर थी जो जल्दी ही उतर गई!

महेश प्रसादजी ने मैट्रिक पास किया था। साधनों के अभाव से आगे पढ़ने में कठिनाई थी, इसलिए उन्होंने चाहा कि पुलिस की सब-इन्स्पेक्टरी में चले जायँ। उसके लिए दरख्वास्त भी दी, लेकिन उनके भाग में सब-इन्सपेक्टरी नहीं बदी थी। अभी मामला बीच ही में झूल रहा था कि उन्हें मालूम हुआ, अरबी-संस्कृत पढ़ा कर उपदेशक तैयार करने के लिए आगरे में आर्यसमाज ने मुसाफिर विद्यालय खोला है। प्रथम विश्व-युद्ध से पहले का आर्य समाज पीछे के आर्य समाज से कितनी ही बातों में बहुत अन्तर रखता था। उस वक्त उसके वातावरण में समाज-सुधार के साथ-साथ देश भक्ति की भी आग खूब जल रही थी, जिससे अंगरेज शासक आर्य-समाज को संदेह की दृष्टि से देखा करते थे। महेश प्रसाद जहाँ आर्य-समाज के सम्पर्क में आए थे, वहाँ महात्मा नन्दगोपाल जैसे कुछ क्रान्तिकारी देश भक्तों की संगत से भी उन्हें लाभ उठाने का मौका मिला था। पं० भोजदत्त द्वारा स्थापित आगरे के मुसाफिर विद्यालय का पता लग जाने पर उन्होंने सब-इन्सपेक्टरी का खयाल छोड़ दिया और आगरा पहुँच गए। शायद यह १९१२ या १३ की बात है। १९१५ के आरम्भ में जब मै वहाँ पहुँचा तो वे अपनी पढ़ाई समाप्त करके विद्यालय के प्रधान अध्यापक बन चुके थे। जैसा कि मैंने कहा, वे केवल हमारे भाषा के अध्यापक ही नहीं थे, बल्कि आदर्श के पथ प्रदर्शक भी थे। मुसाफिर-विद्यालयों में वही विद्यार्थी जाते थे, जिनके आगे पढ़ने के दूसरे रास्ते बन्द थे। हमारे अधिक साथी मिडिल हिंदी-उर्दू तक पढ़े थे और थे भी गाँव के रहने वाले। इसलिए उन्हें राजनीतिक ज्ञान से क्या सरोकार था! इस बारे में भाई साहब

बहुत सौभाग्यशाली थे। इसीलिए वे अपने ज्ञान और प्रभाव से हमें एक नई दुनिया देखने के लिए आँख दे रहे थे। साधारण पढ़ाई के अतिरिक्त कभी भाई साहब के साथ और कभी आपस में भी हम लम्बी उड़ानों का सपना देखते थे, यद्यपि आगे उन उड़ानों को करने में बहुत कम सफल हो पाए।

हमें पढ़ाते हुए भाई साहब ने अपनी आगे की अरबी की पढ़ाई जारी रखी। उन्हें जो १५)-१६) रुपये मासिक मिलते थे, उनमें से कुछ देकर उन्होंने एक मौलवी को अपना अध्यापक रख लिया था। मेरी पढ़ाई भी समाप्त हुई, मुझे केवल अरबी पढ़ने की जरूरत थी। मुझसे अच्छा व्याख्यान दे देनेवाले मेरे दूसरे साथी भी थे। लेकिन बहस-मुबाहसा तथा दूसरी बातों के कारण विद्यालय वालों को मुझसे बड़ी आशा थी। विद्यालय के संस्थापक पण्डित भोजदत्त चन्दा करके काम चला रहे थे। लेकिन मेरे यहाँ पहुँचते-पहुँचते वे तपेदिक के शिकार हो गए और बहुत दिन नहीं हुआ, वे चल बसे। इसके बाद विद्यालय के प्रबन्ध का भार उनके दोनों लड़कों—डॉ० लक्ष्मीदत्त और वकील तारादत्त—के ऊपर पड़ा। आज दोनों भाई भी नहीं रह गए। खैर, उनको अफसोस हुआ, जब मैं उपदेशक बनने की जगह और आगे पढ़ने के लिए लाहौर जाने लगा। लाहौर में पढ़ने के साथ-साथ मैंने देखा कि अगर भाई साहब यहाँ ओरियण्टल कॉलेज में दाखिल होकर बाकायदा अरबी पढ़ते, तो समय की भी बहुत बचत होती और पढ़ने का सुभीता भी अधिक मिलता। पहले समय की अपेक्षा १९१६-१७ में खाने-पीने की चीजों का दाम बहुत बढ़ गया था; लेकिन आज की अपेक्षा उस समय भी वह सस्ता था। तो भी बिना पैसे के अपरिचित स्थान में जाना कम चिन्ता की बात नहीं थी। लेकिन मैंने लाहौर में अपना स्थान बना लिया था। मैंने यह भी देख लिया था कि भाई साहब वहाँ आकर भूखे नहीं रह

सकते। कोई ट्यूशन या दूसरा काम मिल सकता है, जिससे गुजारा करके वे अपनी पढ़ाई जारी रख सकते हैं। उनके आने पर ऐसा ही हुआ भी। सूखी रोटी और मोटे-झोटे कपड़े पर सन्तोष करनेवाले आदमी का खर्च ही कितना था। दस रुपये मासिक के ट्यूशन से भी उनका काम चल सकता था।

भाई साहब ओरियण्टल कॉलेज की मौलवी आलिमकक्षा में दाखिल हो गए। वे पहले हिन्दू थे, जिन्होंने मौलवी आलिम-कक्षा में नाम लिखाया था। वे पहले हिन्दू थे, जिन्होंने अरबी की सर्वोच्च परीक्षा मौलवी फाजिल पंजाब-विश्वविद्यालय से पास की। उस समय ओरियण्टल कॉलेज का कोई अपना अच्छा छात्रावास नहीं था। किले और शाही मस्जिद के बीच में कुछ कोठरियाँ थीं, जो न-जाने किस मतलब से बनाई गई थीं। इसके निचले तल्ले में बहुत समय तक अंगरेजों के घोड़े बँधते रहे। भाई साहब उसी छात्रावास में रहने लगे। अपने शास्त्रार्थों और खंडन-मंडन के कारण आर्यसमाज मुसलमानों में ज्यादा बदनाम था और भाई साहब कोई छिपकर अपनी पढ़ाई नहीं कर रहे थे। उनकी मोटी चुटिया हमेशा खुली रहती थी, क्योंकि वे टोपी नहीं पहनते थे। धोती और कुर्ता उनकी पोशाक में थे। लाहौर यद्यपि अभी भारत का पेरिस नहीं बना था, तो भी हमारे प्रदेश से वहाँ शौकीनी अधिक थी, इसमें सन्देह नहीं। भाई साहब मोटे कुर्ते और धोती पर ही संतोष नहीं करते थे, बल्कि बुन्देलखंड के गाँवों में पहना जानेवाला चमरौधा जूता भी मँगाकर पहनते थे। बुन्देलखंड में रहते समय पीछे मुझे इसका लाभ मालूम हुआ था। पंजे के ऊपर अधिक निकला हुआ चमड़ा झाड़ियों के काँटों से रक्षा करता था। भाई साहब का बर्ताव अपने मुसलमान अध्यापकों और सहपाठियों से इतना अच्छा था कि उस पर धार्मिक मतभेद का कोई बुरा प्रभाव नहीं पड़ा। भाई साहब एक जगह जमकर रहनेवाले जीव थे और मैं उड़नछू पंछी, जिसके

लिए ६ महीना भी एक जगह रहना भारी आफत थी। भाई साहब अपने मौलवी आलिम-फाजिल की पढ़ाई में लग गए और मैं पैरों मे चक्कर बाँधकर कभी भटकने और कभी बुन्देलखंड में अरबी-संस्कृत पाठशाला खोलकर बैठने की व्यर्थ कोशिश करने लगा।

मैं मद्रास या कुर्ग में था, जब कि असहयोग का आन्दोलन शुरू हुआ। तब तक भाई साहब मौलवीफाजिल हो चुके थे। हिन्दू मौलवी-फाजिल पाकर हिन्दू-विश्वविद्यालय ने उन्हें तुरन्त अपना लिया; लेकिन उनकी जो कदर होनी चाहिए थी, वह आखिर तक नहीं हुई। तो भी पढ़ाई समाप्त करने के बाद अपना सारा जीवन उन्होंने हिन्दू-विश्व-विद्यालय में बिताया। जब वे काम पर लग गए, तो ब्याह के लिए चारों ओर से जोर पड़ने लगा। मै उसके पक्ष में नहीं था, लेकिन भाई साहब का वैसा मत नहीं था। दक्षिण में रहते ही उनके ब्याह की बात भी मालूम हो गई। अपनी सहधर्मिणी के चुनने में भी उन्होंने अपनी अनोखी परख का पता दिया। कितनी ही अच्छी शिक्षिता लड़कियाँ मिल रही थीं, लेकिन उनका कहना था—मुझे तो ऐसी लड़की चाहिए, जो चक्की भी पीस ले, खाना भी बना ले, घर के काम के लिए किसी की मोहताज न रहे। हाँ, तो भाई साहब को ऐसी ही पत्नी मिली। गांधी-युग के पहले से ही वे स्वदेशी और सादगी के व्रती थे, गांधी-युग ने उन पर और प्रभाव डाले, जिसमें कल की जगह हाथ के पीसे-कूटे दाल-चावल-आटे की महिमा भी थी। बेचारी पत्नी पति से बहुत पहले ही चल बसीं और लड़कियों के पालन-पोषण और शिक्षा-दीक्षा का भार भाई साहब के ऊपर दे गईं।

भाई साहब स्थान में ही एक जगह जम कर बैठने की आदत नहीं रखते थे, बल्कि उनके विचारों में भी बहुत कम परिवर्तन की गुञ्जाइश-थी। मैं आर्यसमाज से हटते-हटते बौद्ध धर्म और मार्क्सवाद तक पहुँच गया लेकिन भाई साहब बड़ी लगन से आर्यसमाजी बने रहे। वे आर्य

समाजी सभाओं में उपदेश देने जाते, यद्यपि वे खंडन-मंडन और शास्त्रार्थी उपदेशक नहीं बन सके। उनके दिल में आग तो थी, लेकिन उसकी प्रचंडता बाहर मालूम नहीं होती थी। उनका अरबी-भाषा का ज्ञान गंभीर था, लेकिन कम बोलने और कम लिखने की आदत ने उनसे आगे आनेवाली पीढ़ियों के लिए अधिक काम नहीं करवा पाया। शायद इसमें एक कारण यह भी था कि हिन्दू-विश्वविद्यालय में जैसी कदरदानी होनी चाहिए थी, जैसा प्रोत्साहन मिलना चाहिए था, वैसा नहीं हुआ। अरबी-कविता पर उन्होंने एक छोटी-सी पुस्तक लिखी और अरबी-साहित्य के सम्बन्ध में कुछ फुटकर लेख भी। लेकिन वे अरबी-साहित्य के सम्बन्ध में ज्ञातव्य बातों से पूर्ण कितने ही ग्रंथ दे सकते थे, जिसे अब दूसरों को देना होगा। मैं अपने से ही मिलाता हूँ। मैंने बौद्ध साहित्य का जब आलोड़न किया और हिन्दी की अवस्था देखी, तो तुरंत हाथ में आए ज्ञान को हिन्दी-भाषा-भाषियों के लिए कागज पर उतारने में बड़ी बेसब्री का परिचय दिया। शायद भाई साहब भी कुछ इसी तरह की भावना रखते थे, लेकिन पुस्तकों का प्रकाशन हिन्दी में आसान नहीं था। मेरी ही बौद्ध धर्म-सम्बन्धी पुस्तकों को छापने के लिए निःस्वार्थ भाव से कुछ संस्थाएँ और व्यक्ति तैयार न हो गए होते, तो क्या काम आगे बढ़ सकता था? भाई साहब इसके लिए जद्दोजहद करते, तो हो सकता है, आगे रास्ता निकल आता। पर साथ ही उन्हें एक बड़ी गृहस्थी भी तो चलानी थी।

लाहौर या आगरे के ही बाद अधिक समय तक एक साथ रहने का मुझे मौका नहीं मिला; लेकिन भारत में रहते समय प्रायः हर साल एक-दो बार मुलाकात हो जाया करती थी। उस वक्त मुझे मालूम होता था कि मेरे सामने वही भाई साहब बैठे हैं, जिन्हें आगरे में मैंने छोड़ा था। उन्हें भी मैं वैसा ही दिखाई पड़ता था। बड़ी बेतकल्लुफी से बातें होतीं। मैं अपनी यात्राओं का वर्णन करता, अपने सामने रखे कामों की

चर्चा करता और वह संक्षेप में आपबीती सुनाते। उनके जीवन के पिछले बहुत से वर्षों के बारे में मुझसे अधिक साहित्य-सम्मेलन के भूतपूर्व अध्यक्ष तथा मेरी ही जन्म-भूमि के सपूत पं० चन्द्रबली पांडे अधिक अच्छी तरह बतला सकते हैं। दोनों की सीधी-सादी जिन्दगी में ही समानता नहीं थी, बल्कि दोनों की साहित्यिक सेवा में भी बहुत सादृश्य था। इसीलिए तो 'कुनद हमजिन्स बा-हमजिन्स परवाज' के अनुसार मौलवी साहब का निवासस्थान बेघर चन्द्रबली पांडे का चिर-निवास बन गया था।

पिछले दो-ढाई सालों से डाइबीटीज के संयम के कारण मैं अब अव्याहतगति नहीं रह गया हूँ, इसलिए भाई साहब से मिलने का मौका भी डेढ़-दो साल से नहीं हुआ था। लेकिन मुझे कहाँ यह खयाल था कि मेरे भाई साहब और दूसरों के मौलवी महेश प्रसाद इतनी जल्दी हमे छोड़कर चले जायँगे! उनकी बीमारी का भी पता नहीं चला था कि एकाएक पढ़ा,—'भाई साहब का देहान्त हो गया!' पुत्री कला ने अपने पत्र में लिखा था—"आपको पिताजी का फोटो···भेज रही हूँ। यह पिछले वर्ष का (१६५१) का खींचा हुआ चित्र है। साथ ही यह न भूलूँगी कि अन्तिम दिनों में वे आपकी तथा अपने अन्य साथियों की प्रायः चर्चा किया करते थे।" सचमुच ही वे स्नेह और सहानुभूति की मूर्त्ति थे। भला अपने पूर्व मित्रों की स्मृति को कैसे भुला सकते थे?

मृत बन्धुओं की स्मृति को चिरस्थायी रखने की लोग कोशिश करते हैं। इसे मैं बुरा नहीं मानता; किन्तु इसकी सफलता पर संदेह मुझे अवश्य है। हाल में ही कितने ही ऐसे पुरुष गुजरे हैं, जिनका नाम सालों हर रोज अखबारों में निकलता था, उनके नाम की धूम-सी मची हुई थी; लेकिन अब कोई-ही-कोई याद करता है। भाई साहब ने अपने ज्ञान और सौहार्द से बहुतों का उपकार किया। अपने बारे में तो कह सकता हूँ कि मेरे जीवन को सबसे अधिक प्रेरणा जिस पुरुष से मिली,

वह भाई महेश प्रसाद जी थे। एक समय मैंने इस कृतज्ञता को प्रकट करने के लिए अपने 'कुरानसार' (इस्लाम धर्म की रूपरेखा) में मंगलाचरण के तौर पर एक दो अर्थोंवाला श्लोक रचा था। पीछे अनीश्वरवादी हो जाने पर ईश्वर की ध्वनि लानेवाले उस श्लोक को मैंने पुस्तक में नहीं रखा और न अब वह सारा श्लोक ही याद है। उसके कुछ अंश थे।

"...शुष्कं पर्णं तदिव सततं खे पृथिव्यामटंतं,
प्रेणोत्थाय विदितविभवो...
..नौमि तं श्रीमहेशं।"

सचमुच भाई साहब से मिलने से पहले मैं सूखे पत्ते की तरह निरुद्देश्य भटकता था। पीछे भी यद्यपि भटकना बन्द नहीं हुआ, किन्तु मेरे जीवन को सोद्देश्य बनाने का श्रेय मौलवी महेशप्रसाद को है।

अछूतोद्धारक स्वामी सत्यानन्द

एक और घनिष्ठ मित्र अब स्मृति की वस्तु रह गए। स्वामी सत्यानद मेरे अपने जिले आजमगढ़ में पैदा हुए, लेकिन उनका परिचय मुझे अपने जिले में प्राप्त करने का अवसर नहीं मिला। यह परिचय भी उस समय मिला, जब नहीं कहा जा सकता कि उनका जीवन-पथ किस ओर जाने वाला था। प्रथम विश्वयुद्ध चलते एक ही साल हुआ था। सन् १६१५ के दिसम्बर में स्वामी सत्यानन्द, उस समय के बलदेव चौबे, अपने एक तरुण मित्रके साथ वृन्दावन गुरुकुल का वार्षिकोत्सव देखकर आगरा आए। उस समय आर्यसमाज एक सजीव संस्था थी, जिससे तरुणों को बहुत प्रेरणा मिलती थी। तरुण बलदेव चौबे किसी तरह उसके सम्पर्क में आ गए, इसलिए दोनों मित्र आजमगढ़ से मथुरा-वृन्दावन के तीर्थाटन और देशाटन के लिए ही नहीं, बल्कि आर्यसामाजिक संस्थाओं को देखने के लिए अपनी छुट्टियों को लगा रहे थे। उन्हें आगरे के अरबी-फारसी पढ़ाकर आर्य धर्मोपदेशक बनाने वाले आगरे के आर्य-मुसाफिर विद्यालय का पता लग गया था, इसलिए वे वहाँ आए। विद्यालय के प्रधानाध्यापक स्वर्गीय मौलवी महेशप्रसाद थे और उनके विद्यार्थियों में हम आधे दर्जन के करीब तरुण थे। आगरे में अपने जिले के दूसरे तरुण को देखना हम दोनों के बीच साधारण परिचय से अधिक सम्बन्ध स्थापित करने के लिये पर्याप्त था। १६१५ से १६५३ ई० तक ३८ वर्षों की हमारी मैत्री रही। हमारे विचार कितनी ही बातों में एक दूसरे से बिल्कुल उल्टे थे, लेकिन मुझे याद नहीं कि कभी एक बार भी उसके कारण हमारे बीच किसी तरह का मनमुटाव हुआ हो। उनका स्नेह मेरे ऊपर कितना था

और वे मेरे ऊपर अपना कितना अधिकार समझते थे, यह इसी से मालूम होगा कि १९३६-३७ में जब कांग्रेस प्रादेशिक कौंसिलों का चुनाव लड़ रही थी, उस समय प्रान्तीय कमेटी में वे आजमगढ़ के एक चुनाव-क्षेत्र से मेरा नाम देना तै करवा आये। लोगों ने जब पूछा कि वे खड़ा होना भी चाहेंगे, तो उन्होंने जवाब दिया—'हाँ, जरूर।' अपने जिले से मेरा सम्बन्ध करीब-करीब सन् १९१० से छूट गया था, जब कि मैंने घुमक्कड़ी की दीक्षा ली। उसके बाद जिस जिले को मैंने अपना अधिकांश कार्य-क्षेत्र बनाया, वह था बिहार का छपरा। मुझे जब उन्होंने कौंसिल-मेम्बरी के लिये खड़े होने को कहा और मैंने इन्कार में जवाब दिया, तो उसे उन्होंने सहर्ष स्वीकार कर लिया।

प्रारंभिक जीवन

१९१५ ई० के अन्त में पहली बार हम दोनों का साक्षात्कार हुआ था उस समय बलदेव जी हाई स्कूल की शायद नवीं क्लास के विद्यार्थी थे। १९१६ ई० में जब मैं मुसाफ़िर-विद्यालय की पढ़ाई खत्म करके अपनी संस्कृत की पढ़ाई को आगे बढ़ाने के खयाल से लाहौर पहुँचा, तो देखा कि बलदेव जी भी वहाँ अनारकली के एक मन्दिर में डेरा डाले हुए हैं। अब तो लाहौर के समय में हम दो शरीर और एकप्राण हो गए। मैं विद्या या बुद्धि में अपने को उनसे बड़ा नहीं समझता था। आयु में चार वर्ष मैं बड़ा था। लेकिन हर एक बात में बलदेव जी मुझसे परामर्श लेते और मेरी बातों की कदर करते। बलदेव जी एक गरीब किसान के घर में पैदा हुए थे। थोड़े-बहुत खेत थे, जिनकी आमदनी के बल पर उर्दू-मिडिल पास करने के बाद अपने जिले में भी हाई-स्कूल की पढ़ाई करना उनके लिये मुश्किल था। फिर लाहौर जैसे खर्चीले और दूर देश के नगर में पैसे के बल पर अपनी पढ़ाई कैसे कर सकते थे? लेकिन केवल इसी कारण उन्होंने अँगरेजी छोड़कर संस्कृत

का विद्यार्थी बनना स्वीकार नहीं किया। आर्यसमाजी उपदेशकों के लम्बे-चौड़े भाषणों को सुनकर उनके तरुण हृदय को विश्वास हो गया। 'सभी सत्य विद्याओं के भंडार वेद हैं, जो संस्कृत में हैं। इसलिये मुझे अपने जीवन का अनमोल समय अंगरेजी-जैसी म्लेच्छ भाषा को न देकर संस्कृत पढ़ना चाहिए।' आदर्शवादी बलदेव को सांसारिक आर्थिक महत्वाकांक्षा नहीं थी। संस्कृत के विद्यार्थी के लिये खाने-कपड़े या फीस की समस्या नहीं थी। कितने ही और बड़े शहरों की तरह पंजाब की राजधानी लाहौर में संस्कृत के विद्यार्थियों के निःशुल्क पढ़ने के लिये विद्यालय थे और मुफ्त भोजन देने के लिए क्षेत्र खुले थे। बलदेव जी अब अनारकली के मोतीलाल मन्दिर की परिक्रमा में एक खुले गलियारे में रहते, क्षेत्र में भोजन करते और लघुकौमुदी माता को घोखते। चीजें कितनी थीं ही? उनके रखने के लिए दीवार में एक आलमारी बनी हुई थी। उनके साथ रहने वाले और घनिष्ठ मित्र आन्ध्र-तरुण श्री कनकदंडी सोमयाजुलू*को सामने की दीवार वाली आलमारी मिली।

मैं यद्यपि संस्कृत का विद्यार्थी था और एक समय अंगरेजी को म्लेच्छ भाषा कहकर मैंने उसे ठुकरा दिया था, तो भी सारे भारत की एक यात्रा करने के बाद मैं समझने लगा था कि आजकल के समय में अँगरेजी का भी महत्व है। मिलते ही मैं अनुभव करने लगा कि बलदेव जी गलती कर रहे हैं। उन्हें अँगरेजी छोड़कर नहीं, बल्कि अँगरेजी के साथ पढ़ना हो, तो संस्कृत पढ़ें, यह समझाने में कई दिन लगे। यदि मैं संस्कृत का विद्यार्थी और उनके जिले का तरुण मित्र न

---

* सोमयाजुलू आज कैलास-मानसरोवर के स्वामी प्रणवानन्द के नाम से विख्यात हैं, और मानसरोवर के भौगोलिक अनुसन्धान में उन्होंने काफी ख्याति प्राप्त की है।

होता, तो शायद ही वे अपने विचारों को बदलते। मेरे प्रयत्न का यह फल हुआ कि उसी साल उन्होंने डी० ए० वी० हाई-स्कूल में अपना नाम लिखवा लिया। उनका रहना लाहौर के सारे विद्यार्थी-जीवन में प्रायः उसी मन्दिर की उसी खुली जगह में रहा। मेरे पैरों में चक्र था, इसलिए कहीं वर्ष-छः महीने से अधिक ठहरना मेरे लिए संभव नहीं था। १९१४ में मैं लाहौर में रहा, फिर १९१८-१९ में भी। लेकिन इस संयोग-वियोग का हमारे सम्बन्ध पर कोई असर नहीं पड़ा। जब मैं लाहौर में रहता, तो हो नहीं सकता था कि डी० ए० वी० कालेज के संस्कृत के विद्यार्थियों के वैदिक आश्रम से चलकर प्रायः रोज बलदेव जी के मन्दिर में न पहुँचता या वे मेरे पास न आते। घंटों हम एक जगह बैठ कर अपने भविष्य के स्वप्नों का ताना-बाना बुनते। मुझे देश-सेवा, बाहर धर्म-प्रचार और देश देशांतर में घूमने की आकांक्षा थी, जिसके लिए अभी अपनी तैयारी कर रहा था। जहाँ तक भारत में घुमक्कड़ी करने का सम्बन्ध था, वह मेरे हाथों में थी, मैं जहाँ तहाँ घूमने जाया ही करता था; लेकिन उसे मैं घुमक्कड़ी में गिनने के लिए तैयार नहीं था। मेरी घुमक्कड़ी तो भारत की सीमा पार करने के बाद शुरू होने वाली थी। बलदेव चौबे और सोमयाजुलू के मन में भी कुछ उसी तरह की भावनाएँ थीं। एक चौबे तरुण मेरे मुसाफिर-विद्यालय के साथी पं० रामगोपाल जी भी थे, जिनसे मिल कर हमारी चौकड़ी पूरी होती थी। रामगोपाल जी प्रवासी भारतीयों की सेवा के लिए अपना जीवन देना चाहते थे और उसके लिए लाहौर में तैयारी कर रहे थे। उनका सपना जल्दी ही खत्म हो गया, जब चार ही पाँच वर्ष बाद प्लेग में उनका देहान्त हो गया। बलदेवजी ने उस समय परिवार सहित रुग्ण रामगोपाल जी की जितनी सेवा की, वह सहोदर भी न कर सकेगा। रामगोपालजी एक छोटे पुत्र और पत्नी को छोड़कर अपने सारे बच्चों के साथ प्लेग के मुँह में चले गए। बलदेव जी ने अपने मृत मित्र के

अवशिष्ट परिवार के साथ आजन्म सम्बन्ध रखा और यथाशक्ति सहायता देने की कोशिश करते रहे।

निजी क्षितिज का विस्तार

मनुष्य के जीवन के हर समय का एक सीमित क्षितिज होता है, और वह अपने आदर्शों को उसी क्षितिज की चहार दीवारी के भीतर रखता है। लेकिन अपने तजुर्बों और अध्ययन मनन द्वारा उसका क्षितिज विस्तृत होता जाता है, उसी के अनुसार आदर्श में भी परिवर्तन आता है। हाँ ईमानदार आदर्शवादी की दिशा नहीं बदलती, न उसका क्षितिज विस्तृत होकर संकुचित होता है। गाँधी जी की असहयोग की आँधी आने से पहले तक हम लोगों का क्षितिज और उसका आदर्श कुछ निश्चित-सा हो गया था, और उसीके भीतर हम अपने ताने बाने बुना करते थे। १६१८-१६ ई० में मैं फिर लाहौर में था। बलदेव जी अपनी प्रगति और आदर्श से सतुष्ट थे। उनकी बड़ी बहन बचपन ही में विधवा हो गई थीं। उनकी बड़ी इच्छा थी कि बहन की कुछ शिक्षा हो जाय, तो वह भी अपने जीवन को सेवा-कार्य में लगाए। सलाह हुई। मैने अनुमोदन किया और निश्चय हुआ कि गर्मियों की छुट्टियों में घर जाने पर बलदेवजी बहन महादेवी को लाकर कानपुर की एक महिला-शिक्षण-संस्था में प्रविष्ट करा दें। ऐसा ही हुआ। शायद यह १६१७ की बात है। महादेवीजी वहाँ की पढ़ाई खत्म कर चुकी थीं। उनकी और भी पढ़ने की इच्छा थी। हमारे सहृदय मित्र हिन्दी के पुराने सिद्धहस्त लेखक श्री सन्तरामजी उस समय कन्या-महाविद्यालय जालन्धर में पढ़ाते थे। उन्होंने बतलाया कि महिला-आश्रम में दाखिल होने में दिक्कत नहीं होगी।

१६१६ ई० का अप्रैल आया। रॉलेट-एक्ट के विरुद्ध आन्दोलन

करने का बीड़ा गांधीजी ने उठाया। वे मथुरा जिले के पलवल स्टेशन पर गिरफ्तार कर लिए गए। फिर सारे देश में आग-सी लग गई। ६ अप्रैल को इतवार के दिन भारत के और अनेक नगरों की तरह लाहौर में भी विराट् जुलूस और विशाल सभाएँ हुईं। सदियों के बाँधों को तोड़कर उस दिन हिन्दू-मुसलमान एक गिलास में पानी पीते देखे गए। स्मरणीय दृश्य था। उनके अगले दिन मैं लाहौर से रवाना हुआ। बहन महादेवी और भाई रामगोपाल की धर्मपत्नी दोनों को लाकर जालंधर कन्या-महाविद्यालय में दाखिल करने का काम मुझे सौंपा गया था। शाहजहाँपुर के एक गाँव में मैं अपने एक मित्र के यहाँ से मिलकर जब लौट रहा था, तो अमृतसर के जालियाँ वाला बाग के खूनी कांड की खबर मिली। लेकिन मैं उसके कारण उत्पन्न हुई परिस्थिति को नहीं समझ पाया। रामगोपाल जी की पत्नी नहीं आईं। महादेवी जी को आश्रम से जब नाम कटाकर स्टेशन ले आया, तो मालूम हुआ कि पंजाब में मार्शल-लॉ जारी हो गया है, जालंधर का रेलवे टिकट नहीं मिलता। अगर आश्रम में फिर दाखिल करना संभव होता, तो शायद मैं बहन महादेवी को वहीं छोड़ आता।

देशाटन ने कुछ साहस तो मन में भर ही दिया था। मालूम हुआ, दिल्ली का टिकट मिल सकता है। कहा—चलो दिल्ली तक। जालंधर के कुछ तो नजदीक पहुंच जायेंगे। गाजियाबाद में पूछने पर मालूम हुआ कि अम्बाला का टिकट मिल रहा है। हम दोनों अम्बाला-छावनी जा पहुँचे। अब वहाँ फुलस्टाप था। उतरकर आर्यसमाज-मन्दिर में गये। दो-चार दिन बाद पता लगा कि बम्बई-मेल के सेकेंड क्लास का टिकट मिल रहा है। ले लिया। बहनजी को जनाना डब्बे में किसी तरह स्थान मिल गया, लेकिन मेरी तो ट्रेन ही छूटनेवाली थी। किसी तरह खिड़की के रास्ते भीतर घुसा। जालन्धर आया। बहन जी को आश्रम में दाखिल कर दिया। लाहौर जाने का रास्ता बन्द था। वहाँ मार्शल-लॉ चल रहा

था। लेकिन जैसे ही ट्रेन खुली, मैं लाहौर पहुँच गया। इसके अगले साल के अप्रैल में भी मैं कुछ समय के लिए लाहौर गया। बलदेव चौबे और उनसे दो क्लास आगे पढ़ने वाले सोमयाजुलू की पढ़ाई जारी रही। हाई-स्कूल पास कर वे कालेज में पढ़ने लगे। इसी समय गढ़वाल में अकाल पड़ा और दोनों मित्र अकाल-पीड़ितों की सेवा के लिए गढ़वाल जाकर तीन महीने रहे। बलदेव जी ने एफ० ए० का इम्तहान दिया और सोमयाजुलू ने बी० ए० का। सोमयाजुलू तो आगे की पढ़ाई छोड़ कर राजनीतिक काम में लग गए, जहाँ से पीछे वे योगी और कैलासवासी घुमक्कड़ बन गए। बलदेव जी ने अपनी पढ़ाई जारी रखी।

नागपुर में विशेष कांग्रेस हुई। वहाँ असहयोग का प्रस्ताव पास हुआ। अँगरेजी शिक्षण संस्थाओं, कचहरियों और विदेशी चीजों का बायकाट होने लगा। बलदेव जी बी० ए० आनर्स के विद्यार्थी थे। वार्षिक परीक्षा के लिए तीन ही चार महीने रहते थे और परीक्षा में बैठ जाने पर उनके पास हो जाने में कोई सन्देह नहीं था। मै उस समय सवा साल से दक्षिण का प्रवास करते कुर्ग के मड़िकेरी नगर में था। चिट्ठियाँ हमारी बराबर आती-जाती रहतीं। एक चिट्ठी में पहली बार उन्होने असहयोग की चर्चा करते हुए अपने कालेज छोड़ने की बात हल्के स्वर में कही। मैने जोर देकर लिखा—तीन महीने कोई ब्रह्मा के दिन नहीं होते, परीक्षा देकर असहयोग में जुट जाओ। अगली चिट्ठी उनकी और गरम थी। मेरा माथा ठनका। मैने बहुत जोर देकर और लम्बी चिट्ठी लिखी, लेकिन उसका जवाब कहीं दूसरी जगह से आया। तरुण बलदेव कालेज छोड़ चुके थे। उनको न किसी बड़ी नौकरी की ख्वाहिश थी और न पैसा कमाकर धनी बनने की। उन्होने सेवा-व्रत पहले ही से ले रखा था, इसलिए उनको जीवन के ऐसे बड़े निर्णय के करने में कोई दिक्कत नहीं थी। मुझे वह अधिक व्यावहारिक और वस्तुवादी मानते थे, और मेरी बात की कदर भी करते थे। मै असहयोग के

खिलाफ नहीं था और मड़िकेरी से मैं उसी में भाग लेने के लिए आज-कल में ही प्रस्थान करने वाला था।

कुमार-आश्रम की स्थापना

१६२१ से १६२५ ई० तक उनका और मेरा समय अब जेल-यात्राओं का समय था। इसलिए दोनों का साक्षात्कार केवल पत्रों द्वारा ही कभी-कभी हो सकता था। १६२५ में दो साल की कैद भुगत कर मैं बाहर निकला। उस साल दिसम्बर में कानपुर में कांग्रेस का अधिवेशन था। कई वर्षों बाद दोनों फिर वहाँ मिले। बलदेव जी चौबे ब्राह्मण थे, लेकिन छुआछूत के वे जबर्दस्त विरोधी थे। असहयोग आन्दोलन के ठंढा पड़ने के बाद लाला लाजपत राय द्वारा स्थापित लाहौर के कौमी विद्यालय में दाखिल होकर उन्होंने अपनी कालेज की ही पढ़ाई खत्म नहीं नहीं कर ली, बल्कि साथ ही वे लाला जी के घनिष्ठ सम्पर्क में भी आए। लाला जी अछूतोद्धार के जबरर्दस्त हामी थे और उसके लिए कार्यरूप में कुछ करना चाहते थे। अछूतोद्धार और देश-सेवा के काम के लिए उन्होने लोक-सेवक-समिति कायम की, जिसमें कितने ही स्वार्थ त्यागी आदर्शवादी तरुण आजीवन सदस्य बन गए। बलदेव जी इन सदस्यों की पहली बैच मे थे। वे अछूतोद्धार का काम समिति की तरफ से मेरठ में कर रहे थे। उनका आग्रह हुआ कि मै मेरठ चलूँ। हम दोनों कानपुर से रामगोपाल जी की पत्नी से मिलने उनके पीहर गए, फिर मेरठ पहुँच गए। उन्होंने एक बगीचे वाले बँगले में कुमार आश्रम स्थापित किया था, जहाँ वे अपने परिवार के साथ रहते थे। उस समय (१६२६ ई० में) कुमार-आश्रम मेरठ शहर से बाहर था। किन्तु अब तो उत्तर-प्रदेश के और शहरों की तरह मेरठ भी बहुत बढ़ गया है और कुमार-आश्रम का वह बगीचे वाला घर नगर के भीतर आ गया है। बलदेव जी का बहुत सीधा-सादा जीवन, उनका त्याग

और योग्यता लोगों के ऊपर प्रभाव डाले बिना नहीं रह सकती थी। कुमार आश्रम में देश के सबसे पद-दलित और अछूत समझे जाने वाले लोगों के बच्चों को लेकर उनकी शिक्षा का प्रबन्ध किया गया था। बलदेव जी की देख रेख में और उनके परिवार के अंग के तौर पर लड़को को साधारण शिक्षा ही नहीं मिलती थी, बल्कि आदर्शवादी वातावरण में रहने का मौका मिलता था। कितने ही सालों तक वे वहाँ रहे; लेकिन उनके रहते समय कुमार-आश्रम में मेरा जाना उसी साल हुआ। उनके गाँवो के पास के तथा आजकल उत्तर-प्रदेश-कांग्रेस के सभापति श्री अलगू राय शास्त्री भी उनके सहकारी थे।

मेरठ से कुछ बैलगाड़ी और कुछ पैदल हमने हस्तिनापुर, परीक्षित-गढ़ और कितने ही स्थानों की यात्रा की। परीक्षितगढ़ के पास एक गाँव मे ईसाइयो का एक बालिका-विद्यालय था, जहाँ मनुष्य से गिरे समझे जाने वाले हिन्दू समाज के अछूत कुलों की लड़कियाँ शिक्षा-दीक्षा द्वारा योग्य बनाई जा रही थीं। उस यात्रा में एक दिन दोपहर का भोजन हम दोनों का चार पैसे मे हुआ था, जिसमें गुड़ और कोई भुना हुआ दाना था। भोजन अत्यन्त सीधा-सादा और सस्ता था, लेकिन अब तो यह विश्वास करने की बात नहीं रह गई है कि दो पैसे में एक आदमी तृप्त होकर भोजन कर सकता है।

कबीर-जैसा जीवन

मेरठ के सहवास में मैंने देखा कि आधुनिक कबीर को भी लोई-जैसी ही पत्नी मिली है। मै समझता था और एकाध मर्तबा अपने भावों को मैने प्रकट भी किया कि बलदेव जी सचमुच ही बड़े तपस्वी हैं, जो ऐसी पत्नी के साथ रह सकते हैं। वे गाँव की अशिक्षित महिला ही नहीं थीं, लेकिन मै तो कहूँगा कि बाज वक्त उन पर सनक तक सवार हो जाती थी। कितनी ही बार गुस्सा होकर छोटे बच्चे को गोद में दबाये

वे कलकत्ता और लाहौर तक चली जातीं। अपने इसी गुस्से के कारण उनका बड़ा दुःखद अन्त हुआ – वे आग में जल मरीं। दो पुत्र और दो पुत्रियों का पालन-पोषण अब बलदेवजी के ऊपर पड़ा, लेकिन उनको महादेवी-जैसी सहृदया बहन मिली थीं। वे अपने भाई—विशेष कर उनके बच्चों—के लिये सब कुछ थीं। उनके कारण बलदेवजी निश्चिन्त रह सकते थे। गांधीजी कितनी ही बातों में कबीर-जैसा जीवन रखते थे और असहयोग करने के बाद बलदेव चौबे उनके साबरमती आश्रम में एक वर्ष से अधिक दिनों तक रहे थे। गांधीजी के जीवन की उनके ऊपर बहुत बड़ी छाप लगी थी। लेकिन उससे भी अधिक प्रभाव कबीर और अपनी जन्म-भूमि के आस पास के दूसरे सन्तों का पड़ा था, जिनकी वाणियों और जीवनियों का बहुत ध्यान से बलदेवजी ने अध्ययन किया था। कितनों की अप्रकाशित वाणियों का भी उन्होंने काफी संग्रह किया था। लेकिन साहित्यकार बनने की उनमें कभी इच्छा नहीं हुई। इसीलिये उनका यह संग्रह स्वान्तःसुखाय ही था। उन्होंने सन्तों की तरह के कुछ भजन भी बनाये थे।

१६३० के बाद उनका सन्तों-जैसा जीवन शुरू हो गया। वे अब प्रयाग में रहकर लोक-सेवक-समिति की ओर से काम कर रहे थे। जब-तब उनके यहाँ मेरा जाना हुआ करता था। वे जिस तरह अब घोर आस्तिक बन गये थे, मैं उसी तरह घोर नास्तिक था। लेकिन हमारे विचारों की विभिन्नता से हमारे सम्बन्ध में कोई अन्तर नहीं आया था। बलदेवजी बड़े भिन्सारे ही उठकर एकतारा छेड़ते कुछ पहले के सन्तों के और कुछ अपने भजन गाने लगते थे। वे अपने सारे परिवार को एक सन्त-परिवार बनाना और अपने बच्चों पर बचपन से ही आध्यात्मिक संस्कार डालना चाहते थे। बड़ा लड़का विद्यासागर, दोनों छोटे लड़के और सावित्री और विद्यावती दोनों लड़कियाँ साढ़े ३-४ बजे रात ही उठाकर जबर्दस्ती भजन-मंडली में बैठा दिए जाते। चौबेजी का एकतारा किन्-

किन् करने लगता। वे स्वर और वाद्य-संगीत से बिल्कुल कोरे थे, लेकिन उन्हें विश्वास था, भगवान को रिझाने के लिए उनकी आवश्यकता नहीं। लेकिन यही तो समय था, जबकि छोटे-छोटे बालक-बालिकाओं की बात तो अलग, सयानों को भी बड़ी मीठी नींद आया करती है। मैं भविष्यवाणी किया करता था : अपने बच्चों को ईश्वर-विमुख बनाने के लिए बलदेवजी का तरीका सबसे अच्छा है। सचमुच ही उस भजन के साथ भगवान भी बच्चों को कुनैन-से कड़वे लगते थे।

पुराने और नए कांग्रेसियों में बलदेव चौबे अपवाद थे। वे काजल की कोठरी में रहकर भी हमेशा निर्लेप रहे। जब वे आजमगढ़ जिला-बोर्ड के जन-निर्वाचित अध्यक्ष हो गए, तब भी उनकी शिकायत अगर सुनी जाती थी, तो यही कि यदि उनको खुश करना हो, तो अपने अछूतोद्धार प्रेम को अधिक से अधिक दिखलाया जाय। उन्होंने स्वयं अपनी पढ़ाई असहयोग के जमाने में छोड़ दी थी। अँगरेजी ढंग के स्कूलों और कालेजों में उनकी बिल्कुल आस्था नहीं थी। वे अपने इस विचार को भगवद्भक्त बनाने के प्रयत्न की तरह बच्चों पर भी लादना चाहते थे। लेकिन उनके घर में बहन महादेवी थीं। वे इस विषय में बच्चों के उत्साह को बढ़ाने के लिए तैयार नहीं थीं, बल्कि खुद अध्यापिका बनकर जो कमातीं, उससे उनको सम्हाले आगे बढ़ती रहीं। बड़ा लड़का विद्यासागर बचपन से ही बहुत दुर्बल और अस्वस्थ था। लड़कपन में भी आँखों के बिल्कुल पास ले जाकर वह पुस्तक को पढ़ सकता था, लेकिन पढ़ने में बुरा नहीं था। चौबेजी का प्रयोग या झक का शिकार पूरी तौर से विद्यासागर ही बन सके। साहित्य-सम्मेलन की परीक्षाओं में कोई छूत नहीं थी, इसलिए 'साहित्यरत्न' हो गए और फिर अपने भाग्य और परिश्रम पर छोड़ दिए गए। मझला लड़का बड़ा होनहार था, लेकिन वह असमय ही चल बसा। नमक-सत्याग्रह चल रहा था। चौबेजी जेल में थे। उनकी अनुपस्थिति से फायदा उठाकर बड़ी

लड़की ने मिडिल का फार्म भर दिया था। परीक्षा की तिथियाँ नजदीक आ रही थीं और साथ ही चौबेजी के जेल से छूटकर आने की तारीख भी इसी समय पड़ने वाली थी। घर में मनाया जा रहा था कि चौबेजी कुछ दिन और जेल से बाहर न आवें, जिसमें सावित्री परीक्षा में बैठ सके। शायद वे पहले ही आ गए और सावित्री सरकारी परीक्षा में बैठ नहीं सकी। लेकिन 'साहित्यरत्न' बनने का रास्ता उसके लिए साफ था। बहन महादेवी भाई से लड़कर भी उसे आगे बढ़ाने के लिए सब तरह से तैयार थीं। वह साहित्यरत्न भी हुई, एम० ए० भी हुई। दूसरी लड़की विद्या ने भी पिता के हठ के होते एम० ए० की शिक्षा समाप्त की। छोटे लड़के ने भी इसी तरह कबीर के कमाल की तरह अपनी शिक्षा को पूरा किया। चौबेजी का शिक्षा-सम्बन्धी प्रयोग अपने घर में असफल ही रहा।

छुआछूत के खिलाफ जेहाद

अछूतोद्धार का काम मेरठ, दिल्ली, प्रयाग आदि जगहों में करने के बाद चौबेजी ने अपने जिले में जाकर अब छुआछूत के विरुद्ध पाखंड-खंडनी झंडी गाड़ दी और गाँव में एक बिल्कुल स्वावलम्बी हरिजन-आश्रम खोल दिया। वहाँ कुछ बिगहे जमीन मिल गई थी, जिसमें शिखा-सूत्र-हीन चौबेजी स्वयं हल-कुदाल चलाते और उनके विद्यार्थी भी। प्राचीन गुरुकुलों के विद्यार्थियों की तरह विद्यार्थी उनका अनुगमन करते। अपने पहनने के लिए आश्रम में ही कपास, सूत और कपड़ा तैयार किए जाते। खद्दर पहनना अनिवार्य था। रोटी-चौका-बासन ही नहीं, मकानों की दीवारों को खड़ा करने में भी आचार्य और अन्ते-वासियों ने अपना परिश्रम लगाया था। आश्रम में बकरियाँ पाली गई थीं। कुछ समय बाद वे चौबेजी के लिए बड़ी समस्या हो गईं। मुझ से कह रहे थे: बकरियों के जो बच्चे पैदा होते हैं, उनमें मादा को तो

हम बढ़ने दे सकते हैं, लेकिन बकरों का क्या करें। मालूम होता है, अहिंसक चौबे बाबा से लोग निर्भीक हो गए थे, वे आँख बचाकर बकरों को चट कर जाते। आश्रम की बकरियों या बकरों को बेचने का मतलब था, वे किसी-न-किसी तरह कसाई के यहाँ पहुँच जाते और उनकी हत्या में चौबे बाबा अपने को भी जिम्मेदार समझते!

चौबेजी अव्यावहारिक थे, इसमें सन्देह नहीं। लेकिन उनका हृदय बहुत उदार था। 'वसुधैव कुटुम्बकम्' की उक्ति को अपने जीवन में चरितार्थ करने का जितना प्रयत्न उन्होंने किया, उतना विरलों ने ही किया होगा। द्वितीय विश्व युद्ध से कई सालों पहले ही मैंने एक दिन उन्हें गेरुआ वस्त्र पहने देखा। मालूम हुआ कि अब बलदेव चौबे स्वामी सत्यानन्द सरस्वती हो गए हैं। संन्यासी का जीवन तो वे वर्षों पहले से बिताते आए थे, चुटिया और जनेऊ को युगों पहले विसर्जित कर चुके थे और छुआछूत के भूत से तो वे अपने विद्यार्थी-जीवन से ही मुक्त हो गए थे। उनको इतनी हिम्मत थी कि अपनी जाति-बिरादरी की रूढ़ियों और खान-पान की मर्यादाओं को अपने जिले से दूर रह कर ही नहीं, बल्कि अपने गाँव में भी तोड़ डालें। यदि उनके बच्चों में कोई उनके साथ कभी रहता भी था, और यह सेवा विद्यासागर चौबे को प्राप्त थी, तो उनके आश्रम के काम में सहायता देने के लिए ही। लोक-सेवक-समिति का सदस्य रहते उन्हें समिति की ओर से कुछ रुपए मिलते थे, जो उनके और परिवार के सीधे-सादे जीवन के लिए पर्याप्त थे और साथ ही अवलम्ब भी। लेकिन एक बार उन पर झक सवार हुई, तो उससे इस्तीफा दे दिया। श्री पुरुषोत्तमदास टंडन से उनका सम्पर्क बहुत पहले से था, दोनों का मधुर सम्बन्ध बराबर वैसे ही बना रहा।

अँगरेजी-शासन के उठ जाने के बाद स्वामी सत्यानन्द की तरुणाई का एक स्वप्न पूरा हो गया, जब देश स्वतंत्र हो गया था। देश की

आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक अवस्था को बेहतर बनाने के लिए स्वामी जी गांधीवाद को ही सर्वश्रेष्ठ मानते थे। वे आजमगढ़-शहर नहीं, बल्कि जिले के और कस्बेसे दूर अपने आश्रम में रहकर सेवा करते थे, लेकिन इस अजातशत्रु को छोड़ने के लिए कोई तैयार नहीं था। जब बालिग-मताधिकार से जिला-बोर्ड के अध्यक्ष के चुनाव का समय आया, तो काँग्रेसने उन्हें खड़ा किया, और वे बोर्ड के अध्यक्ष चुन लिए गए। हाल में जब विधान-परिषदों का सार्वजनिक चुनाव हुआ, तो उन्हें प्रान्तीय विधान-सभा के लिए काँग्रेस की ओर से खड़ा किया गया। पूर्वी उत्तर प्रदेश के जिले आज वर्षों से भारी आर्थिक संकट में हैं। कई सालों तक पर्याप्त वर्षा नहीं हुई, इसलिए आजमगढ़ जैसे कितने ही जिलों के किसानों की फसल मारी गई और पिछले साल (१९५३ में) अति वृष्टि ने नदियों में एक नहीं, अनेक बार बाढ़ लाकर सैकड़ों गाँवों का सत्यानाश किया। ऐसे आर्थिक संकटवाले जिले में कॉंग्रेस से लोगों का निराश होना स्वाभाविक है। लेकिन कॉंग्रेस के सौभाग्य से प्रतिद्वन्द्वियों में एकता नहीं थी। वैयक्तिक महत्वाकांक्षा रखने वाले स्वतंत्र उम्मीदवारों की तो बात नहीं की जा सकती लेकिन समाजवादी, कम्युनिस्ट और दूसरे वामपक्षी भी एक होकर काँग्रेस से मुकाबला करने के लिए तैयार नहीं थे। इस प्रकार विरोधी वोट बँट गए और कांग्रेस को पूर्वी उत्तर-प्रदेश में हर जिले में पराजय का मुख देखने की जगह विजय प्राप्त करने का अवसर प्राप्त हुआ। स्वामी सत्यानन्द का चुनाव-क्षेत्र तो इस विषय में सारे भारत में अद्वितीय रहा। वे चुनाव में जीते, लेकिन उनकी जमानत जब्त हो गई—अर्थात् पेटियों में पड़े वोटों में से जितना प्रतिशत वोट जमानत न जब्त होने के लिए पाना आवश्यक था, वह उन्हें न मिला। यह स्वामी सत्यानन्द की जमानत की जब्ती नहीं, बल्कि कांग्रेस की थी।

स्वामी सत्यानन्द या आजमगढ़ के बलदेव चौबे ने होश सँभालने

के साथ पहले साहस, स्वावलम्बन का परिचय दिया आत्मत्याग और आदर्शवाद का महान् नमूना अपने जीवन से पेश किया। उनके मित्र और सहकारी केवल अपने जिले और अपने प्रदेश में ही नहीं, बल्कि भारत के बहुत से भागों में मिलेंगे, जिनकी संख्या काल ने अब बहुत कम कर दी है। लेकिन उनकी सेवाएँ भुलाई नहीं जा सकतीं। मुझे तो उनका लाहौर वाला चेहरा ही ज्यादा याद आता है, जबकि अभी गांधीजी का असहयोग शुरू नहीं हुआ था। अनेक बार मेरी विरोधी बातों को सुनकर ओठों पर नहीं, उनकी आँखो मे जो हँसी खेलने लगती थी, वह अब भी मेरे सामने सजीव दिखलाई पड़ती है। बलदेव चौबे मुझ से चार वर्ष छोटे थे, और शरीर से मोटे-तगड़े न होने पर भी उनका स्वास्थ्य खराब नहीं था। इसलिए मुझे आश्चर्य हुआ, जब दिल्ली के एक अँगरेजी दैनिक में उनके क्षेत्र से पुनर्निर्वाचन की सूचना पढ़ते हुए मालूम हुआ कि अब स्वामी सत्यानन्द सरस्वती या चौबे बाबा इस दुनिया में नहीं रहे। हम दोनों के मित्र तथा चौबेजी के सहपाठी भदन्त आनन्द कौसल्यायन से यह भी पता लगा कि वे बीमार होकर लखनऊ के अस्पताल में पड़े थे। चौबेजी की तरह ही सबको एक दिन महाप्रयाण करना है, लेकिन 'बिछुरत एक प्राण हरि लेहीं' की उक्ति तो उनके लिए ही है।

स्वामी सत्यानन्द का जन्म आजमगढ़ जिले के कमलसागर गाँव (पोस्ट रामपुर) में अगहन शुक्ल पंचमी संवत् १९५४ (सन् १८९७) को हुआ था और निधन आषाढ़ पूर्णिमा रविवार (२६ जुलाई, १९५३) को। पिता लल्लू चौबे और माता तपस्यादेवी ने ऐसे तपस्वी और यशस्वी पुत्र को जन्म देकर अपने जीवन को सफल किया।

अकदमिक बरन्निकोफ

"७ सितम्बर को अलेक्सेई पेत्रोविच भी नहीं रहे," यह ख्याल मेरे दिल में आया, जब कि उस दिन दिल्ली रेडियो ने भारत-तत्व के महान् विद्वान बरन्निकोफ के निधन की खबर दी। अलेक्सेई पेत्रोविच बरन्निकोफ रूस के उन यशस्वी विद्वानों की परम्परा में से थे, जिन्होंने संस्कृत और भारतीय संस्कृति के अध्ययन में अपना सारा जीवन लगा दिया। अठारहवीं सदी के अन्त में गेरासिम लेवेदोफ ने कलकत्ता में अंग्रेजी के साथ बंगला नाटकों का भी सर्वप्रथम रंगमंच पर अभिनय किया, उसी समय मालूम हो गया, कि चाहे और तरह से रूस का सम्बन्ध भारत से न हो, लेकिन भारतीय जीवन के परिचय कराने में रूसियों का हाथ भी होने वाला है। १७८५ ई० से सोलह वर्ष तक कलकत्ता में रह कर लेवेदोफ १८०१ ई० में लंदन और फिर रूस की राजधानी पितरबुर्ग चला गया, जहाँ उसने १८०५ ई० में सबसे पहले नागरी टाइप ढाले, और संस्कृत पढ़ने के लिए रूसी में पुस्तक लिखी। उसके बाद तो राबर्त लेंज (१८०८-३६ ई०), पेत्रोफ (मृत्यु १८७६ ई०), कोसोविच (१८७२ ई०), शिफनर (१८१७-७६ ई०), बोथलिंक (१८१५-१९०४ ई०), मिनयेफ (१८४०-९० ई०), ओल्देनबुर्ग (१८६३-१९३४ ई०) श्चेर्बात्स्की (१८६६-१९४१ ई०) और बरन्निकोफ (१८९०-१९५२ ई०) जैसे एक से एक संस्कृत और भारतीय तत्व के प्रकाण्ड विद्वान् रूस ने पैदा किए। राजनीतिक सम्बन्ध न होने पर भी सांस्कृतिक क्षेत्र में भारत के अतीत और वर्तमान का परिचय कराने में कितना गम्भीर काम रूसियों

ने किया है, वह विद्वानों से छिपा नहीं है। आज भी आधी शताब्दी पहले प्रकाशित किए गए "सन्त-पीतर्बुर्ग लेक्सिकन" (संस्कृत महाकोश) के टक्कर का कोई संस्कृत कोश नहीं बन सका, यद्यपि उसकी बड़ी आवश्यकता है।

बरन्निकोफ को भारत के लोग उतना नहीं जानते, जितना कि जानना चाहिए, इसका कारण यही है कि उनके दो सौ के करीब लेख, निबन्ध तथा पुस्तकें सभी रूसी भाषा में लिखी गईं और प्रकाशित हुईं। हिन्दी भाषी यह जानते ही हैं, कि लल्लूलालजी के 'प्रेमसागर' और तुलसी के 'रामचरितमानस' का उन्होंने रूसी में बहुत ही सुन्दर अनुवाद किया है। तुलसीकृत रामायण के अनुवाद करने में केवल अपनी विद्वत्ता का ही नहीं, बल्कि श्रद्धा का भी उन्होंने खूब परिचय दिया। यद्यपि उसका यह अर्थ नहीं, कि वह रामभक्त बन गए। उन्होंने तुलसी के अमर काव्य को पद्यबद्ध करते हुए यह भी कोशिश की, कि चौपाई, दोहा और दूसरे पद्य उतने ही अक्षरों वाले रूसी छन्दों में अनुवादित किए जाएँ। केवल अनुवाद की दृष्टि से ही वह बहुत शुद्ध अनुवाद नहीं है, बल्कि वह इतना सुन्दर अनुवाद हुआ है, कि कई हजारों का प्रथम संस्करण कुछ ही महीनों में खत्म हो गया। जिस वक्त पुस्तक प्रेस में थी और उसके लिए चित्रों का चुनाव हो रहा था, उस समय इन पंक्तियों का लेखक भी लेनिनग्राद में था, और अनेक बार चित्रों और दूसरी बातों के सम्बन्ध में हमारी बातें होती थीं। बरन्निकोफ चाहते थे, कि अनुवाद में चित्र तुलसी के समय के वातावरण के साथ दिए जाएँ। अभी उस समय भारत के साथ रूस का राजनीतिक सम्बन्ध स्थापित नहीं हुआ था, इस कारण हमारे यहाँ से उनको उतनी सहायता भी नहीं मिल सकती थी। जब एक दो रामायण की पुरानी सचित्र प्रतियों के बारे में मालूम हुआ, तो बरन्निकोफ ने बहुत कोशिश की, कि रूसी अनुवाद में वही चित्र दिये जाएँ। काशी नागरी

प्रचारिणी सभा ने इसके बारे में उनकी सहायता की थी, जिसके लिए वह बहुत कृतज्ञ थे।

अनुवाद को रूस की सर्वोच्च विद्वत् परिषद् (अकदमी नाउक) ने प्रकाशित किया। बरन्निकोफ ने शिक्षित और अशिक्षित भारत के सबसे विशाल जनसमूह में इतने प्रिय काव्य को रूसी साधारण जनता तक पहुँचाने के लिए लेख लिखे और रेडियो पर भाषण दिए। रेडियो भाषण के समय उन्होंने मूल और अपने अनुवाद की बानगी श्रोताओं को देनी चाही, उस समय इन पंक्तियों के लेखक को तुलसी की चौपाइयों को पूर्वी यू० पी० के साधारण रामायण पाठकों के सुर में पढ़ना पड़ा। जिस तरह तुलसी के ललित काव्य से हम हिन्दी भाषी विशाल जनता के सांस्कृतिक मनोभाव को समझते हैं, उसी तरह बरन्निकोफ के अनुवाद से हमारे मनोभावों की तह तक पहुँचने में रूसियों को मदद मिलेगी, इसमें संदेह नहीं।

अकदमिक बरन्निकोफ का जीवन भारत की आधुनिक भाषाओं के अनुशीलन और अध्यापन में बीता, लेकिन उसका यह अर्थ नहीं, कि वह संस्कृत तथा और भारत की प्राचीन भाषाओं और विचारों से अल्प-परिचित थे। आधुनिक भाषाएँ अभी यूरोपीय विद्वानों में उतनी सम्मानित नहीं थीं। रूसी विद्वानों की पुरानी पीढ़ी भी उनकी कदर नहीं करती थी, लेकिन सोवियत क्रांति के बाद जनभाषा की कदर बढ़ी और जिन रूसी विद्वानों का इधर ध्यान गया, उनमें बरन्निकोफ सबसे पहले पुरुष थे।

बरन्निकोफ को रूसी प्रथा के अनुसार अलेक्सेई पेत्रोविच (पेतस्पुत्र अलेक्सेई) के नाम से संबोधित किया जाता था। मरते वक्त उनकी उमर ६२ वर्ष की नहीं हो पाई थी। वह २१ मार्च १८९० ई० को उक्रइन के पोलतावा जिले में द्नियेपर नदी से छः मील हट कर जोलोत्नित्सा कस्बे में एक गरीब बढ़ई के घर में पैदा हुए थे। उनके

पिता १९४७ ई० में ८८ साल की उमर में भी अपने खानदानी काम से विश्राम लेना नहीं चाहते थे। इतने स्वस्थ हृष्ट-पुष्ट पिता की सन्तान होने पर भी बरन्निकोफ को उतना स्वस्थ शरीर नहीं मिला था, जितना कि स्वस्थ मस्तिष्क। आखिरी जीवन में वह मधुमेह और हृदय रोग से पीड़ित रहते थे। १९४६ ई० में जब दिल्ली में एशियाई-सम्मेलन हो रहा था, उस समय रूस के विद्वानों के प्रतिनिधि बन कर बरन्निकोफ आना चाहते थे, किन्तु डाक्टरों ने उसके लिये अनुमति नहीं दी, जिसका उन्हें बहुत अफसोस होना स्वाभाविक ही था। आखिर, उन्होंने अपना सारा जीवन भारत और भारतीयों के अध्ययन में लगाया था, और भारत-भूमि का वह दर्शन भी न कर पाए, यह कितने खेद की बात थी।

बरन्निकोफ बड़े मेधावी लड़के थे, यद्यपि उनका परिवार बिल्कुल अपढ़ नहीं था। लेकिन परिवार को साक्षरता के प्रकाश में वह अपने लिए किसी बड़े लक्ष्य को नहीं ढूँढ़ सकते थे। अध्ययन जारी रखते उन्हें अपने पथ और लक्ष्य की खोज करनी पड़ी।

सात वर्ष की आयु में यह बढ़ई पुत्र जोलोत्‌नित्सा के स्कूल में पढ़ने के लिये गया और माँ-बाप किसी तरह कमा कर दस वर्ष तक लड़के को पढ़ाते रहे। अलेक्सेई आगे बढ़ना चाहता था, लेकिन उसके पास न वैसे साधन थे, न सम्बन्ध ही। अभी जेम्नासियम (मैट्रिक) परीक्षा भी उसने नहीं पास कर पाई थी, जिसके बाद कि वह आगे बढ़ने का अधिकारी होता। लेकिन अलेक्सेई को विद्या का इतना प्रेम था, आगे बढ़ने का इतना उत्साह था कि चारों ओर से बाधाएँ उपस्थित होने पर भी उसने हिम्मत नहीं हारी। रूसी उसकी मातृभाषा थी, और २०वीं शताब्दी के आरम्भ में भी रूसी साहित्य बहुत विशाल था, इसलिए उसने विद्वानों की पुस्तकों को अपना गुरु बनाया। जेम्नासियम की परीक्षा में फ्रेंच, जर्मन जैसी आधुनिक तथा लातिन और ग्रीक जैसी प्राचीन—चार भाषाओं को भी पढ़ना था। अलेक्सेइ की रुचि गणित

और भाषा दोनों के अध्ययन में बहुत थी। इस प्रकार अपने परिश्रम से १६१० ई० में अलेक्सेइ ने जेम्नासियम की परीक्षा पास करके विश्वविद्यालय के दरवाजे के भीतर दाखिल होने का प्रमाण पत्र पा लिया।

अभी भी उच्च-शिक्षा का दरवाजा खुल गया, ऐसा नहीं कहा जा सकता, क्योंकि उस समय शिक्षा इतनी खर्चीली रक्खी गई थी कि केवल धनी और सामन्तों के पुत्र ही आगे पढ़ सकते थे। यदि जोलोत्-नित्सा में न होकर मास्को या लेनिनग्राद में अलेक्सेई का जन्म हुआ होता, तो बाप के बसूले के बल पर आधे पेट खाकर भी आगे बढ़ने की कोशिश वह कर सकता था। अलेक्सेई ने कठिनाइयों की कोई परवाह न कर सत्तू बाँध एक दिन रूसी संस्कृति की सर्वप्राचीन राजधानी कियेफ की ओर प्रयाण कर दिया। यूनिवर्सिटी में दाखिल होने से पहले पेट के सवाल को हल करना जरूरी था। कई दिनों तक कियेफ की गलियों की खाक छानते अलेक्सेई को एक धनिक-पुत्र को पढ़ाने का काम मिल गया। अब उसने विश्वविद्यालय मे अपना नाम लिखा लिया, और भाषाओं का अध्ययन अपना मुख्य विषय बनाया। पहले की पढ़ी हुई भाषाओं के अतिरिक्त अलेक्सेई ने अब स्लावानिक (प्राचीन रूसी), लिथुवानी, प्राचीन जर्मन, प्राचीन फ्रेंच, इतालियन, पहलवी, जन्द और संस्कृत को अपना पाठ्य विषय बनाया। शौकीनी गरीब के बेटे में वैसे होती ही क्यों; लेकिन अलेक्सेई तो और भी बहुत सीधे-सादे स्वभाव का नवयुवक था। हो सकता है, तरुणाई के संघर्षों ने ही उसे इतना विनत बना दिया हो। रूसी विद्वानों के मनोरथ की सब से ऊँची उड़ान वाले अकदमिक पद पर पहुँचने पर भी बरन्निकोफ बहुत चुप्पे-से मालूम होते थे। बिना बात आरम्भ किये शायद दिनों महीनों उनके मुँह से आपको एक शब्द भी सुनने को नहीं मिलता। उस समय के रूस में कुलीन और अकुलीन, धनी और गरीब वर्ग के भीतर इतनी ही बड़ी खाई थी, जिसको पाटना एक साधनहीन तरुण के लिए कैसे सम्भव हो सकता था?

गरीबों के साथ यूनिवर्सिटी के प्रतिभाशाली विद्यार्थी अलेक्सेइ को बहुत आत्मीयता मालूम होती थी। उन्हें संस्कृत और भारतीय भाषा का अधिक ज्ञान प्राप्त होने के बाद मालूम हुआ, कि सिगान (रोमनी, जिप्सी) लोग किसी समय भारत ही से आये थे और अब भी जो (रोमनी) भाषा वह बोलते हैं, वह भारतीय भाषा है। इस पर उन्हें हमारे यहाँ के हबूड़ों (डोम खानाबदोशों) के यूरोप मे भटक गये भाई-बन्दो में जाकर उनकी भाषा सीखने का शौक पैदा हुआ। अलेक्सेई दिनों नहीं, महीनों सिगानों के तम्बुओं में रहे और उनसे उनकी भाषा का अध्ययन करते रहे। उन्हें सिगानों की भाषा के ही सीखने का बड़ा शौक नहीं था, बल्कि उनके स्वच्छन्द घुमन्तू जीवन में भी बहुत आकर्षण मालूम होता था। वह यद्यपि सिगानों जैसे काले बालों वाले नहीं थे, न उनका रंग ही उनसे मिलता था, लेकिन उनकी सिरकियों में जाकर वह सिगान बन कर उन्हीं के साथ खाते, पान करते और नाचते-गाते। वह इतनी अच्छी रोमनी बोलते थे, कि अपरिचित सिगान कह उठते—"तुम तो रामे (डोम) हो!"

लेकिन सिगानों के साथ इतना घनिष्ठ सम्पर्क प्राप्त करने का यह मतलब नहीं था, कि अलेक्सेइ ने अपने अध्ययन की उपेक्षा की। चार साल की पढ़ाई के बाद १९१४ में उन्होंने बहुत अच्छे नम्बरों में विश्वविद्यालय की परीक्षा पास की। "स्लाव, लिथुवानी और जर्मन-भाषाओं में धातु-रूप" पर उन्होंने तीन सौ पृष्ठ का एक निबंध लिखा, जिसके लिये उन्हें स्वर्ण-पदक प्राप्त हुआ। "मगिस्तर" की उपाधि के साथ जो सबसे बड़ी चीज मिली, वह थी आगे की पढ़ाई के लिये छात्रवृत्ति। चौबीस वर्ष को उमर में पहुँच कर शनि की दशा अब हट गई और वह राजधानी सेन्त-पीतरबुर्ग के प्रसिद्ध विश्वविद्यालय में जा कर पढ़ने के लिये स्वतन्त्र थे।

सेन्त-पीतरबुर्ग उस समय रूस की राजधानी होने से देश का सबसे

बड़ा विद्या-केन्द्र था। वहाँ के विश्वविद्यालय में ओल्देनबुर्ग, श्चेर्बात्स्की और ज़ाल्मान जैसे विश्वविख्यात विद्वान् अध्यापन करते थे। बरन्निकोफ को उनके चरणों में बैठकर विद्या प्राप्त करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। यद्यपि उन्हें पर्याप्त छात्रवृत्ति मिलती थी, लेकिन वह इतनी नहीं थी, कि अलेक्सेई मनमानी पुस्तकें खरीद सकते। अकदमिक बरन्निकोफ के घर में जाने पर जो सबसे ज्यादा आकृष्ट करने वाली चीज थी, वह उनका विशाल पुस्तकालय था। एक विशाल कमरा चारों ओर खड़ी किताबों से भरी आलमारियों से पूर्ण था। पुस्तकों के खरीदने के लोभ से मजबूर होकर उन्होंने एक जेम्नासियम (हाई स्कूल) में पढ़ाने का काम स्वीकार कर लिया। प्रथम महायुद्ध शुरू हो गया था, जिसका प्रवाह हर एक नागरिक के जीवन के ऊपर पड़ना जरूरी था, लेकिन बरन्निकोफ की पढ़ाई छूटी नहीं, और अस्पेरांत (एम० ए०) की परीक्षा पास करते-करते १९१७ ई० की महाक्रांति आ गई। बरन्निकोफ की अब तक की देखी दुनिया आँखों के सामने उलट गई, उत्पीड़ित और दलित जन अब आगे आ गए। किंतु गरीब बढ़ई के पुत्र बरन्निकोफ के लिए यह दुनिया वैसी ही मालूम हुई, जैसा मछली का पानी। परीक्षा बड़े सम्मान के साथ उन्होने पास की थी, और उनके अध्यापक अपने मेधावी छात्र का लोहा मानने लगे थे।

परीक्षा समाप्त करते ही उन्हें समारा (आधुनिक व क्विबिशियेफ) विश्वविद्यालय में भाषा तत्व का प्रोफेसर नियुक्त किया गया, जहाँ चार साल तक वह योग्यता के साथ अध्यापन और अनुशीलन करते रहे।

१९२१ ई० में उन्हें लेनिनग्राद (सेन्त-पीतरबुर्ग) विश्वविद्यालय में बुला लिया गया, और तब से लेनिनग्राद ही उनका घर बन गया। द्वितीय महायुद्ध के वक्त कुछ समय तक उन्हें बाहर रहना पड़ा, नहीं तो मृत्यु के समय तक वह लेनिनग्राद ही में रहे। उनको प्राचीन और नवीन भाषाओं का कितना विशाल ज्ञान था, यह हम बतला चुके

हैं। उन्होंने हिंदी-उर्दू के व्याकरण तथा कोष लिखे हैं। वह एक बृहत् हिंदी-रूसी कोष में लगे हुये थे। मालूम नहीं वह अभी छपा या नहीं। क्रांति के बाद युनिवर्सिटियों ने डिग्रियाँ देना बंद कर दिया, जिसका फिर से आरम्भ १६३५ में हुआ। इसी साल बरन्निकोफ को भाषाविज्ञान-आचार्य (डॉक्टर आफ फिलालोजी) की उपाधि मिली।

सोवियत (और पुराने) समय में भी रूस में किसी भी विषय के सर्वोच्च विद्वान का सबसे बड़ा सम्मान है—अकदमी का सदस्य चुना जाना। १६३६ में यह सर्वोच्च सम्मान बरन्निकोफ को मिला, और तब से उन्हें अकदमिक बरन्निकोफ कहा जाने लगा। यह स्मरण रखना चाहिए, कि रूस में साइन्स, साहित्य आदि सभी विषयों के चोटी के विद्वानों में से डेढ़ सौ से अधिक व्यक्ति नहीं हैं, जिनको यह सम्मान प्राप्त है।

बरन्निकोफ का परिवार बड़ा ही सुसंस्कृत और सुशिक्षित था। पत्नी युनिवर्सिटी में जर्मन भाषा की प्रोफेसर थीं, ज्येष्ठ पुत्र मातृभूमि के लिए द्वितीय महायुद्ध में वीर गति को प्राप्त हुआ, दूसरा पुत्र सेना मे अफसर है और एकलौती पुत्री भी उच्च शिक्षा-प्राप्त है। भारत सदा बड़े सम्मान से इस विद्वान का स्मरण करता रहेगा।

नेपाली महाकवि देवकोटा

जनवरी १९५३ में मैं पाँचवीं बार नेपाल गया। उस दिन नेपाली कवियों और साहित्यकारों की गोष्ठी में एक सहृदय कवि ने जब मेरा स्वागत करते हुए 'विदेशी अतिथि' का शब्द प्रयुक्त किया, तो मेरे हृदय में एकाएक सुई-सी चुभ गई। नेपाल स्वतन्त्र देश है, उसकी स्वतन्त्र राष्ट्रीय एकाई है, इसलिये राजनीतिक तौर से उसे मैं भारत के अन्तर्गत भारत का एक प्रदेश नहीं मानता। किन्तु और कितनी ही बातें हैं, जिसके कारण मैं उसे विदेश नहीं मान सकता। उसी हिमाचल के वरपुत्र हमारे पन्त हैं, जिसके दूसरे श्रेष्ठ पुत्र महाकवि लक्ष्मीप्रसाद देवकोटा हैं। यह कैसे हो सकता है, कि पन्त को तो मैं 'हमारा' कहूँ, और देवकोटा को विदेशी। अबकी यात्रा मे देवकोटा की प्राप्ति मेरे लिये एक नया आविष्कार था। नेपाली साहित्य का आदि कवि भानुभक्त १८१४ ई० में पैदा हुआ और १८६९ ई० मे उसकी मृत्यु हुई। नेपाली कविता-साहित्य का आरम्भ इस प्रकार १९वीं शताब्दी मध्य में हुआ। हिन्दी कविता को १६वीं सदी से २०वीं सदी के मध्य तक जिन अवस्थाओं से गुजरना पड़ा, नेपाली कविता को हमारी चार शताब्दियों की मंजिल एक शताब्दी में पूरी करनी पड़ी। परन्तु इस जल्दी के कारण उसे अपरिपक्व नहीं समझना चाहिए। इसका एक सबूत महाकवि देवकोटा हैं, जिनमें हम अपने हिन्दी के पन्त-प्रसाद-निराला को ही पूर्ण रूप से नहीं पाते, बल्कि उनमें एक ओर यदि हम 'प्रियप्रवास' के कवि 'हरिऔध' को विकसित रूप में देखते हैं, तो दूसरी ओर एक दूसरे भी महाकवि को पाते हैं, जो कि अभी हिन्दी में पैदा

नही हुआ—देवकोटा जनता की सरल और सुललित भाषा में 'मुना मदन', 'कुंजिनी' के महान् गायक हैं।

एक तरफ उनकी कविता में हम देखते हैं—

समय सुन्दर सान्ध्य सुवर्ण को।
मदनमन्दिरमा वन पर्णको॥
जलनिनादर्लिदी ललितांशुका।
तल झरिन् पृथिवीतिर मेनका॥
—शाकुन्तल ३।२६

अथवा,

यात्री आज बनूँ अतीत युग का, समझूँ त त्यो भारत।
ब्यूझाऊँ त सुषुप्तभाव अधिका, पर्दा लगाऊँ यता॥
यो कोलाहल बिर्सिऊं, मृतक को यो नाम को जीवन।
पाल्नोस् सज्जनवृन्द, यो रसिकको मीठो छ वृन्दावन॥
—शाकुन्तल । ६

जहाँ इस जगह हम उनकी कविता को संस्कृत से लदी देखते हैं, वहाँ कवि के अपने प्रियकाव्य 'मुना-मदन' में ग्रामीण गीत-झ्याउरे-में हम कितनी सरल, कोमल और सरस भाषा पाते हैं :

पृथिवीतिर न हेर मुना! म पनि आउंछु,
आंखामा आंसु लिएर चिनो म भेट्न आउंछु,
प्रेम को हीरा छुटे को तल, म लिई आउंछु,
कसरी खायो आगोले दिदी! कमल को शरीर?
कसरी खायो निठुरी भई कमल को शरीर?
म कहाँ पाउँ? तो मुनालाई छातिमा लगाऊँ?
खरानी तिन्को मलाई द्यौन, छातिमा लगाऊँ?
हे मेरी आमा। हे मेरी मुना! म यहाँ बस्दिन!
म यहाँ अब बस्दिन आमा! म यहाँ बस्दिन।"

"हे मेरा भाई तो तिम्री मुना मरेकी छैनन् ती,
ज्योति को स्वरूप लिएर गइन् बगैंचा वसन्ती,
स्वर्ग का गाउँछन् उनको मधुर जयन्ती!"
"पर्दाले ढाक्यो, पर्दा ले छेक्यो, है दिदी! मलाई!
म रूनेछैन! गएर भोलि भेटुंला तिन्लाई!
हे देवपर्दा चांडे ने उठा! धन्य छ तंलाई!
—"मुना मदन"

वाल्मीकि करुण रस के महाकवि थे। "रघुवंश" के अजविलाप को देख कर कालिदास को करुण रस का कवि माना जा सकता है, उसी तरह देवकोटा भी प्रधानतः करुण रस के महाकवि हैं। दूसरे प्राचीन सजातीय कवियों के वैयक्तिक जीवन के बारे में हम पता नहीं, इसलिये हम नहीं कह सकते, कि उनके अपने जीवन का उनकी कविता पर कितना प्रभाव पड़ा, लेकिन देवकोटा का जीवन तो बाल्य काल से ही दुःख और संघर्ष का जीवन रहा। प्रौढ़ अवस्था मे एक के बाद एक तीन पुत्रों को खो चुके हैं, ऐसी हालत में यदि उनके बारे में कोई लिखता है—"दुःख से विदीर्ण हृदय रखते भी वह मुँह पर जबंदस्ती हँसी की रेखा लाना चाहते हैं," तो कोई आश्चर्य नहीं है।

"गत अतीत जीवन के किसी दिन में भीषण दुःखान्त घटना होने के पश्चात् एक वेदना उनमें पैदा हुई, जो कि जितनी-जितनी उनकी उमर बढ़ती गई, उतनी ही बढ़ती गई।" "उनको पहली बार ही देखते समय कोई भी आदमी आसानी से समझ सकता है, कि वह किसी पुजीभूत वेदना से मर्माहत हो छटपटा रहे हैं। सिगरेट उनका चिर साथी है, भावना चिर सहचरी और वेदना जीवन के वरदान जैसी उनके लिये है।"

कवि का जन्म सन् १६०६ ई० (दीपावलि संवत् १६६५) में काठमाण्डू के दिल्ली-बाजार मुहल्ले में एक शिक्षित किन्तु गरीब ब्राह्मण-

परिवार में हुआ था। अपने आरम्भिक जीवन के कष्टों के बारे में कवि ने स्वयं लिखा है ("लक्ष्मी-निबंध-संग्रह" पृष्ठ ६१-६५)—

"मैं जब आठ वर्ष का था, तो मेरे बड़े भाई हाल ही में इन्ट्रेंस पास होकर उस समय के ट्यूशनगिरी में महीने में तीन सौ से ऊपर कमा रहे थे। मैं उनको दुनिया का आदर्श समझता था। माता जी भी बराबर 'उसी तरह पढ़ना होगा, जैसे बाप-भाई' कह कर सस्नेह अंगुली से उनकी ओर दिखाती थी...'पैसा कमाना पड़ेगा, अंग्रेजी पढ़ना पड़ेगा, मास्टर होना पड़ेगा' माँ की इस शिक्षा को अक्षरश मैं अनुसरण करना चाहता था। मैं पढ़ता गया, बढ़ता गया। इन्ट्रेंस की मोहिनी द्वारा गोसाईं थान के पानी जैसा आहूत कठिन चढ़ाइयाँ चढ़ने लगा।.. मैं खेलना नहीं चाहता था। मुझे 'पढ़ना पड़ेगा, पैसा कमाना पड़ेगा' की मोहिनी इधर-उधर देखने नहीं देती थी। घर के चिंतित माता-पिता की मुख-मुद्रा से शिशु आसानी से बात समझ जाता है और दरिद्र के घर के शिशु के हृदय में तो आर्थिक अभाव ही जीवन है. यह (भाव) आसानी से अंकित हो जाता है। मैं मास्टर होना चाहता था, पैसा कमाना, घर हराभरा बनाना, बड़े भाई की मदद करना, सबको दूध-भात पहुँचाना चाहता था। जल्दी पास करने की धुन में मैंने खेल छोड़ा। मुझे भात में स्वाद नहीं मिलता था। मेरा दिमाग सदा गांजा पिये हुए की तरह बाबूराम मास्टर के भूगोल के पाठ में घूमा करता था। मैं अंग्रेजी किताब के पन्नों का स्वप्न देखता था, मैं किताब का तकिया बनाकर सोता था। मैं कभी-कभी चार और छः बजे के बीच में भाई का खेल में साथ देता किन्तु अधिकतर कोठरी में बैठ सिटकिनी लगा कर पौ फटने से रात्रि के १२ बजे तक मेरी पढ़ाई चलती रहती। इस प्रकार मैंने मैट्रिक पास होने के लिए पाँच साल बिताये। पढ़ाई नौ वर्ष की थी, किन्तु मैंने उसे पाँच वर्ष में खत्म किया और इन पांच वर्षों में मैंने भात का स्वाद नहीं पाया। अपनी आकृति

दर्पण में मैंने कम देखी थी। किसी के साथ होड़ करके मैट्रिक पास न होने तक मैने जूता न पहिनने का निश्चय कर लिया था। मैं दुनिया के साथ बोला ही नहीं, यह भी कहा जाता……। स्त्री समाज में मैं अधिक अप्रिय था, क्योंकि मैं उनकी खरीद-बेच इत्यादि में एक कदम भी साथ नहीं देता था। मेरे ऊपर पास होने की धुन सवार थी। १६२६ ई० में पटना विश्वविद्यालय से मैट्रिक पास करने के बाद मेरी आग थोड़ी ठंडी हुई, लेकिन दिल की (आग) बुझी नहीं। मैं अभी पढ़ना चाहता था, और बी० ए० की मोहिनी मुझे बुला रही थी।"

कवि के पिता तिलमाधव उपाध्याय पंडित ही नहीं बल्कि संस्कृत और नेपाली के कवि थे, और उन्होंने कवि के तौर पर ही नेपाल के पाँच प्रधान मंत्रियो के दरबार देखे थे। दरबार की अनन्य सेवा करने पर भी दरिद्रता से उनका पल्ला नहीं छूटा था। यह तो निश्चित है कि साहित्यकारिता और कवित्व देवकोटा को पैतृक दायभाग के तौर पर मिला था। उनकी माता अमरराजलक्ष्मी (मृत्यु १६३७ ई०) भी कोई साधारण महिला नहीं थीं।

घर की चिन्तनीय अवस्था में रहते मैट्रिक पास करने के बाद आगे पढ़ने के लिए देवकोटा काठमाण्डू के त्रिचन्द्र कालेज में दाखिल हुए। यह भी याद रखने की बात है, कि यद्यपि कवि को बचपन में तीर्थदेव नाम दिया गया था, किन्तु लक्ष्मी के महान् त्यौहार दीवाली के दिन पैदा होने के कारण वह लक्ष्मी प्रसाद कहलाने लगे, और अन्त में वही उनका अपना नाम हुआ; लेकिन लक्ष्मी का प्रसाद उन्हें कभी नहीं मिला। सरस्वती के वरपुत्रों के लिये आज की दुनिया में वह सम्भव कैसे हो सकता था? कालेज में उनके विषय अंग्रेजी, अर्थशास्त्र और गणित थे। मेधा और परिश्रम दोनों के सहयोग के कारण देवकोटा को पाठ्यविषय में कोई कठिनाई नहीं मालूम होती थी। अंग्रेजी साहित्य में प्रविष्ट हो जाने के बाद उनके कवि-हृदय ने अंग्रेजी के महान् कवियों की

ओर आकृष्ट होना शुरू किया। वर्ड्सवर्थ की कविता ने उन्हें बहुत प्रभावित किया। 'पढ़ना पड़ेगा, पैसा कमाना पड़ेगा' के संकल्प के साथ अपनी पढ़ाई करते हुए अब कविता ने भी उनके समय में से हिस्सा बँटाना शुरू किया, और वह हफ्ते में कम-से-कम दो दिन घर में बैठे कविता करते थे। अंग्रेजी का तो उन पर भूत सवार था, इसलिये नेपाली के साथ अंग्रेजी में भी कविता करना उनके लिये आवश्यक था। आज भी वह कभी-कभी अंग्रेजी में कविता करते हैं। उनका एक पद्यमय नाटक मैंने भी सुना। उसका पारखी मैं अपने को नहीं मानता, तो भी यह कहना पड़ेगा, कि भाषा, भाव, छन्द में अंग्रेजी पर भी देवकोटा का असाधारण अधिकार है। बी० ए० में पढ़ते समय और पढ़ाई के साथ दिन में तेरह घण्टा उन्हें ट्यूशन करनी पड़ती थी, और कवि के शब्दों में "कमाना पड़ेगा, अंग्रेजी पढ़ना पड़ेगा, मास्टर बनना पड़ेगा' का मीठा गाँजा पी साइकिल पर चढ़ मैं शहर में घूमता रहता था। मैं नेपाली नहीं बोलता था, न नेपाली बोलनेवाले के साथ बोलता था। मुझे ऐसा मालूम होता था, नेपाली में शब्द ही नहीं हैं, भाव व्यक्त नहीं हो सकता, मानो नेपाली विद्वान की भाषा ही नहीं है।...मैं अंग्रेजी में सोचता और अंग्रेजी में बोलता था।" इस प्रकार घर के अभाव को दूर करने में सहायक बनते हुए कवि ने १९३० ई० में बी० ए० पास किया। नेपाल में कोई कानूनी अदालत नहीं थी, इसलिये वकालत पास करने का कोई लाभ नहीं था, तो भी १९३२ ई० में देवकोटा ने पटना से बी० एल० पास किया और कुछ समय एम० ए० के लिए भी दिया, किन्तु कमाई छोड़ पटना में बैठकर पढ़ना नहीं हो सकता था, इसलिए यह संकल्प छोड़ देना पड़ा।

जन्मजात कवि भला बचपन में ही कविता के 'चीकने पात' प्रदर्शित किये बिना कैसे रह सकता था? कवि देवकोटा दस वर्ष के थे, जब कि उनके मुँह से निम्न पंक्तियाँ फूट निकलीं—

'घनघोर दुःखसागर संसार जान भाई ।
न गरे घमंड कहिले मनूँछ हामिलाई ॥'

मानो इस शिशु कविता ने कवि को दिशा का संकेत दिया । दुःख-सागर उनके चारों तरफ उमड़ रहा था । दुःखसागर का साक्षात्कार बुद्ध को भी हुआ था, लेकिन उन्होंने उसे हटाने का मार्ग भी खोज निकाला था । कवि ने उससे निस्तार के लिए घमंड न करने और अन्त में मर जाने पर सन्तोष किया था । उनकी कविता के बारे में आज भी कहा जाता है —'उनकी अधिकांश रचनाएँ दुःखान्त हैं । अथवा सुखान्त होने पर भी जिन स्थलों में करुणा का प्राधान्य है, वह विशेष चमत्कार-पूर्ण दिखाई पड़ते हैं ।' दुःखसागर में पड़े लोगों के लिये स्वयं दुःख में पले कवि के हृदय में अपार सवेदना है । जब गरीबों और उपेक्षितों का वर्णन लिखने के लिए उनकी लेखनी चलती है, तो मानो वह अपने निजी क्षेत्र में दौड़ने लगती है । यह उनके चित्रित किये मुना-मदन, कुंजिनी, गोरे आदि में स्पष्ट दिखाई पड़ती है । कविता ही नहीं, गद्य में मेरी उनकी यह संवेदना प्रकट होती है—

"बहुत दिनों से मुझे पहाड़ी जीवन देखने की चाह थी । मैंने गोसाई थान की यात्रा में पहाड़ों को देखा, किन्तु पहाड़ी जीवन को नहीं देखा । मार्ग में जो देखा, वह हृदय पर प्रतिबिम्बित नहीं हुआ । एक-दो झोंपड़ा, एक-दो बाजार और वन-पहाड़ मार्ग के सिवा कुछ देखा नहीं ।···एक स्थान पर मैंने एक मामूली झोंपड़ी में बिच्छू घास पका बच्चे को खिलाती माँ से पूछा—"तुम लोग यहीं बसते हो ?" उसने जवाब दिया—"जाड़े में तो यहाँ जमीन ही नहीं दिखती ।" उबाले हुए बिच्छू के साग के साथ कोदो की लप्सी खाने लगे । बिच्छू घास के कांटे ताप के कारण थोड़ा-थोड़ा मर गये थे, तो भी मनुष्य की अन्ननली में इस तरह के कांटे वाले पदार्थ को जबर्दस्ती लप्सी घुसेड़ने जैसा पुलिस का काम करते देख मुझे यह दृश्य सबसे दयनीय लगा । वह

बच्चे दुबले-पतले, लाल मिट्टी के रंग वाले, चिथड़ा पहने, अनजान जंगली आश्चर्यपूर्ण आँखों को उठाये मेरी ओर निहार रहे थे।"

देवकोटा नेपाली के पन्त-प्रसाद-निराला तीनों हैं, इसमें अतिशयोक्ति नहीं है। निराला के कुछ दूसरे गुण भी उनमें मौजूद हैं, यद्यपि उतनी मात्रा में नहीं। निराला को रांची ले जाने की बात ही भर कितनी ही बार उठी, किन्तु जब देवकोटा को घर वालों ने विक्षिप्त समझ रांची ले चलने के लिए कहा, तो उन्होंने जरा भी आपत्ति नहीं की और रांची के पागलखाने में कुछ दिन रह भी आये। लेकिन वह पागल तो नहीं हैं। असाधारण प्रतिभा कभी-कभी पागलपन की सीमा-रेखा को मिटाती दीख पड़ती है, वही बात देवकोटा के बारे में भी है। पागल न होते हुए भी कभी-कभी वह प्रभाव दिखलाई पड़ता है। उन्होंने नेपाली और अंग्रेजी में सब मिलाकर आज ४४ वर्ष की आयु में अस्सी पुस्तकें लिखीं, जिनमें से छब्बीस खो गईं! मैंने जब आश्चर्य प्रकट किया, तो कवि के पास बैठी मित्र मण्डली ने बतलाया—'इसमें आश्चर्य करने की क्या बात? कितनी ही पुस्तकें नेपाली भाषा-प्रचार-समिति के धनी-धोरियों की उपेक्षा से नष्ट हो गईं, जिनके यहाँ सौ (नेपाली) रुपया महीने पर कवि वर्षों नौकरी करते रहे। फिर लिखना और फाड़ना कवि के स्वभाव में है। एक नाटक के कितने ही स्थलों को उसी दिन कवि ने सुनाया था। मालूम हुआ, पूरा नाटक एक बार लिख चुके थे, फिर रद्दी कागज की जरूरत हुई, तो उसी को फाड़ फाड़ कर इस्तेमाल करके फेंक दिया। अब यह नाटक दूसरी बार लिखा जा रहा है। क्या मालूम इसकी भी वही गति हो। वस्तुतः यह तो नेपाली साहित्य-प्रेमियों का काम है कि कागज पर उतरते ही पुस्तक के पूरे होने की प्रतीक्षा किए बिना वे उसकी अलग कापी करते जायँ। नेपाल के पहाड़ों में गायिने नामक चारण-गायक जाति है, जिनके 'गायिने' बहुत लोकप्रिय होते हैं। देवकोटा ने 'गायिने गीत' नामक एक काव्य

लिखा था, जिसके नष्ट होने का सहृदयों को बहुत अफसोस है। लिखते, फाड़ते, भूलते हुए, कितने ही वर्षों के बीतने के बाद पचीस वर्ष की उमर में १६३४ ई० में 'शारदा' के प्रथम अंक में कवि की 'गरीब' नामक कविता प्रकाशित हुई। वही उनकी प्रथम प्रकाशित कविता है। लेकिन इससे पहले ही १६३३ ई० (सौर आषाढ़ १५) के वर्षा-मंगल के समय किसान-बालिकाओं को भयाउरे गीत गाते सुन कर कवि का हृदय लोकगीत की ओर आकृष्ट हो चुका था। उन्होंने उसी लय में १६३३-३४ ई० में 'मुना-मदन' खंडकाव्य लिखा था। अपने इस लोककाव्य के बारे में उनका विशेष पक्षपात है, और भयाउरे के बारे में कितना अनुराग है यह उसी की निम्न पंक्तियों से मालूम होगा--

क्या राम्रो, मीठो नेपाली गाना भयाउरे भने को !
यो खेतमित्र बिरूवा रोपैं नदेखी खने को।
फुलेर जाओस् वैलेर जाओस् ईश्वर-इच्छा हो,
पयरमनी नकुल्च भाई ! यो मेरो भिक्षा हो।
यो फुलिजावस् यो फैलिजावस् ! बसन्त डाकन,
भयाउरे भनी नगर हेला हे प्यारा सज्जन !
नरम गरोस, चरम-चूली उड़ाई पुर्याओस्,
निर्मल बाना-लहर जस्ता अघर चलाओस्।
पहाडछातिमा यो टक्राओस् डाँड़ाले दोहर्याऊन्।

अपने इस प्रथम काव्य में स्वाभाविकता के साथ लालित्य का परिचय कवि ने हर जगह दिया है। नायक मदन अपनी प्रियतमा मुना को छोड़ कर तिब्बत (भोट) की यात्रा करता है। तिब्बत के डांड़ों और ल्हासा में दलाई लामा के प्रासाद का कितना सुन्दर वर्णन निम्न पंक्तियों में दिखाई पड़ता है—

डांडा र कांडा, उकाला ठाडा, जंघार हजार,
भोट को बाटो ढुंगा र माटो, नंगा र उजार,

कुइरो डम्म, हिउंले टम्म, त्यों विष फुलैको,
सिम्सिमे पानी, बतास चिसो बरफ झैं फुलैको,
मसाने खम्बा लामा का गुम्बा शिर गोल खौरे को,
बाटामा जाने हात खुट्टा ताने, आगाले बौरे का।
स्याउला चीसा, ओछ्यान् खासा जाडोले बज्ने दाँत.
पकाई झिक्दा नखान पाई कांचा को कांचै भात।
आखिर टूलो सुन को छाना साँझमा सुहायो,
मैदाननेर पोटालामनी, ल्हासा नै मुस्कायो।
आकाश छुने पहाड़ जस्तो सुन्बुट्टे तामा को,
सुन को छाना, दरबार अजङ् त्यो दले लामा को।
चौरी को पर्दा, बुद्ध को मूर्ति सुनमा कुंदे को,
रंगीन दुंगा, अप्सरा सारी बुट्टामा चुंदे को,
शीतल पानी, हरिया पात, हिउँ का टाकुरा
सिरीस फूल फुले को सेतो, रूख का आकुरा।
कोच्यू को खोला, लिंकार को दृश्य, अम्बान को महल,
यूतीक स्याम्पा, त्यो फूल राम्रो, त्यो ल्हासा झल्मल।
तीहस्तिहाडसरी का सेता, भोटेनी भरखर का,
आँखा का काला, नौनी को छाला, त्यो ल्हासा शहरका।

—'मुना-मदन'

नायक मदन बड़े कष्ट के जीवन के बाद जब घर लौटा, तो वियोगिनी मुना हमेशा के लिए इस संसार से विदा हो चुकी थी। कवि ने इसका बड़ा मार्मिक वर्णन किया है। वर्णन विस्तृत है, जिसमें एक-एक पंक्ति के साथ करुण रस का वेग ऊपर उठता जाता है। मदन ने प्रिया के वियोग से विदीर्ण-हृदय हो अपनी बहन से पूछा—

"कस्तो छ मेरी ती मुनालाई ? हेरेर को आयो ?
पानी को घुट्का ती माग्दिहोलिन्, कसले पिलायो ?"

बहन—"हे प्यारा भाई ! ती मुनालाई यो न चाहिन"
मदन—"ती निकी भइन् निरोगी भइन् औषधि चाहिन !"
बहन—"हे प्यारा भाई ! म हेर्न जान्थे, बाटोनै पाइन ?"
मदन—"ती नीकी भइन् आउनन् किन ? यो मेरो अवस्था !"
बहन—"खोज्दिहुन् तिनी आउन भाई ! पाउनन् ती रास्ता !"
मदन—"गजब लाग्छ यो कुरा सुन्दा मावली कहाँ छ ?"
बहन—"बादल पारी, उज्यालो भारी, मुलुक जहाँ छ ?"
मदन—"हे मेरी दिदी ! हे मेरी दिदी ! मुना छन् भनन !"
ती मुना मेरी पृथिवीमाथि अझ छन् भनन्, मुना, अझ
छन् भनन !"
बहन—"पृथिवी वारी पृथिवी पारी ती मुना अफ छिन् ,"
फूलमा हांस्छिन् जलमा नाच्छिन ! तारामा चम्कन्छिन्
कोयलीकण्ठ बोल्दछ तिन्को आँखा छ उज्यालो
शीतमा रून्छिन्, उदास हुन्छिन् देखिन्छ तुंवालो ।"
मदन—"मरेकी छैनन् ती मेरी मुना ज्युंदो छन् भनन ।
मालवमित्र छन् मेरी मुना, आउंछिन् भनन !
आशा की जरा, मनकी चरा, मुना छन् भनन
कुनै दिन दिदी ! आउंछिन् भनन !"
बहन—"हे मेरा भाई ! ती मुना छैनन् पृथिवी वारीमा,
दुःख को लेश नहुने देश कल्पनापारीमा,
टिपेर बस्छिन् सुख का फूल स्वर्ग को बारीमा !"
मदन—"निठुरी दिदी ! निठुरी दिदी !! मार्‍यौ नि मलाई !!
आशा को फूल यदि का दिन आंखामा झुलाई,
कानमा मेरो विष को घुट्का घुटुक पिलाई !

❀ ❀ ❀

"हे मेरी मुना ! हे मेरी मुना !! छाडेर गयौ नि

पूजा की मन्दिर, प्राण की जंजीर, तिमीनै थियौ नि!
हु मेरा प्राण! तिमी नै थियौ नि,
प्राण! छाड़ेर गयौनि!

दैवले हान्यो शिरमा मेरो निठुरी घनले,
के गरी सहूँ? के गरी रहुँ? जिउंदो मनले
सहन सीमा नाघे को मनले

हे मेरी दिदी! तो मुनालाई हेर्दछु एकै छिन्,
ती मुनालाई डाकन दिदी! हेर्दछु एकै छिन्!
डाकन दिदी! हेर्दछु एकै छिन्!

हे मेरी मुना! हे मेरी मुना! ओल्हेर आऊन,
हे मेरी रानी? मुहार तिम्रो म देख्न पाऊंन,
मुना ओल्हेर आऊन!

❀ ❀ ❀

मुना-मदन के बाद जो पुस्तकें प्रकाश में आईं, उनमें, १६३४ ई० में 'सावित्री-सत्यवान्' (नाटक) १६३६ में, 'प्रसिद्ध प्रबन्ध' १६३७ में, 'शाकुन्तल' (महाकाव्य), 'सुलोचना' (महाकाव्य) और 'कुञ्जिनी' (खंडकाव्य) एवं १६३६ में 'लक्ष्मी निबन्ध संग्रह' हैं। देवकोटा की रचना बड़ी तीव्र गति से होती है, इसका उदाहरण चौबीस सर्गों का महाकाव्य 'शाकुन्तल' है, जिसे उन्होंने आफिस के काम के बाद छुट्टी के समय में तीन महीने में पूरा किया। 'सुलोचना' महाकाव्य को तो उन्होंने केवल दस दिनों में समाप्त किया। इस वेग के कारण कविता में ढिलाई हुई हो, इसका पता शाकुन्तल की पंक्तियों से नहीं मिलता। महाकाव्यों के लिखते समय वह नेपाली भाषा प्रचार समिति के वैतनिक नौकर थे, जिसकी ओर से भाषा और व्याकरण के विशेष नियन्त्रण में रह कर उन्हें कविता करनी पड़ी थी, नहीं तो, शाकुन्तल कुछ और ही होता।

अनंगवाणविद्धा शकुन्तला से उसकी सखी प्रियम्वदा के संलाप की कुछ पंक्तियाँ देखिये—

स्वादु प्राकृत प्रवृत्ति-तत्परा ।
हास्य-चारु-अधरा प्रियम्वदा ॥
बैंस-मिष्ट नखरासितै कुरा ।
गर्नलाई चतुरी प्रिया घरा ॥
गर्दछिन् मधुर प्रश्न आलिमा ।
मिष्टभावप्रतिनादकन्दरा ॥
मोहिनी मृदुल-मार-मन्दिरा ।
"बोल्दिनौ किन संगी ! शकुन्तला ?"
झुक्दछन् नजर निम्न लाम्चिला ॥
छैन हास्य-छवि बैंस-चंचला ।
"मंजरी-कुसुम-रुद्ध भै गला ।
मूक छौ कि मन कंठकोकिला ?
या फुलेर मृदुबैंस सुन्तला ।
खोज्छ प्रेम भूँवरा सुमंजुला ?
के छ उत्तर खुला शकुन्तला ?"

देवकोटा ने कविता, कहानी, नाटक, निबन्ध सभी क्षेत्रों में सफलतापूर्वक कलम उठाई है । भाषा के तो वह जादूगर हैं, यह उनकी नेपाली और अंग्रेजी दोनों भाषाओं की कृतियों से मालूम होता है । नेपाली भाषा को नये-नये शब्दों से उन्होंने बहुत समृद्ध किया है । इसके लिए उन्होंने केवल संस्कृत का सहारा नहीं लिया, बल्कि नेपाल की कंदराओं में छिपे पड़े सैकड़ों शब्दों का उद्धार करके उनका सफल प्रयोग किया है । इल, आलु आदि प्रत्ययों को लगा कर उन्होंने सैकड़ों शब्द

बनाए, जिनको देखकर पुराने विद्वान पहले नाक-मुँह सिकोड़ते या हँसी उड़ाते थे, लेकिन वही शब्द अब धड़ल्ले से नेपाली भाषा में प्रयुक्त हो रहे हैं।

लक्ष्मीप्रसाद देवकोटा ऐसी महान् प्रतिभा को पाकर नेपाल और नेपाली साहित्य धन्य है। हम भी उन्हें पंत-प्रसाद-निराला की पंक्ति में बैठाकर अपने को गौरवान्वित समझते हैं।

बुद्ध और गाँधी

हमारे लम्बे इतिहास में हमारे देश में बहुत से महापुरुष हो गये हैं। यह निस्संकोच कहा जा सकता है कि बुद्ध उन सब में महान् थे। उनका व्यक्तित्व सर्वाङ्गीण था। उनकी प्रतिभा बहुमुखी थी। उनका परिवर्तनवाद (क्षणिकवाद)—संसार क्षण-क्षण में परिवर्तित होनेवाली एक प्रवहमान धारा के समान है, उनका अनात्मवाद तथा प्रतीत्य समुत्पाद—एक के विनाश के बाद दूसरे की उत्पत्ति होना इनमें से प्रत्येक उनकी सृजनात्मक विचारधारा का ज्वलन्त उदाहरण है। परन्तु यहाँ हमें इस बात से विशेष प्रयोजन नहीं कि उन्होंने मानवीय विचारधारा को कौन से सिद्धान्त प्रदान किये। आइये, हम उनकी मानवता, प्रेम, विश्वबन्धुत्व एवं उदारता पर दृष्टिपात करें। कुछ लोगों की यह गलत धारणा है कि महात्मा बुद्ध एक व्यक्तिवादी महापुरुष थे जिन्हें व्यक्तिगत निर्वाण की ही चिन्ता रहती थी। परन्तु नहीं, उनकी यह धारणा भ्रमपूर्ण है। वे व्यक्तिवादी नहीं थे। इसका प्रमाण उनके जीवन की एक घटना से मिल जायगा। एक बार उनकी विमाता प्रजावती गौतमी ने अपने हाथ का कता और बुना एक कपड़े का टुकड़ा उन्हें भेंट किया, उन्होंने कहा कि यह कपड़ा संघ को दे दो इससे तुम्हारी अधिक शोभा होगी क्योंकि संघ व्यक्ति से महान् और उच्च है, उनका बोधिसत्त्व का सिद्धान्त जिसके अनुसार परहित के लिए आत्म-बलिदान करते हुए असंख्य जन्म धारण करना पड़ता है, व्यक्तिवादिता का सिद्धांत नहीं है।

वे प्राणिमात्र की भलाई चाहते हैं—'सब्बे सत्ता भवन्तु सुखी तत्ता।' परन्तु वे निष्क्रिय स्वप्नद्रष्टा नहीं थे। वे यथार्थवादी थे।

अतः जब उन्होंने अपनी शिष्यमण्डली को कर्मक्षेत्र में उतरने का आदेश दिया, बौद्ध-धर्म को प्रचार करने की प्रेरणा की तो उन्होंने यह नहीं कहा कि समस्त प्राणियों के हित के लिये प्रयत्नशील रहना; अपितु यह कहा कि बहुत जनों के हित के लिये, बहुत जनों के सुख के लिए (बहुजनहिताय, बहुजनसुखाय) विचरण करो। वे जानते थे कि बहुत जनों का हित और सुख कभी-कभी कुछ लोगों के हितों के विरुद्ध होता है। समाज विपरीत हितों में बँटा हुआ है। उनके विचार में आदि मानव सांसारिक वस्तुओं का जो उपभोग करते थे, वही आदर्श था। वह लोभ जिसने उस समानता का नाश किया तथा वैयक्तिक सम्पत्ति को जन्म दिया, मौलिक अपराध था जिसके कारण मानवता अब तक दुःख भोग रही है और भोगती रहेगी। उनके मतानुसार इस वैयक्तिक सम्पत्ति का लोभ ही चोरी का जन्मदाता है और चोरी से हत्या एवं कलह की उत्पत्ति हुई। इन बुराइयों से बचने के लिये मनुष्य ने राजा को स्वीकार किया। उन्हें मानव समाज के इस रोग की कोई औषध नहीं मिली। उन्होंने अपने ढंग पर अपने भिक्षुओं एवं भिक्षुणियों में साम्यवाद के प्रचार करने का प्रयत्न किया। परन्तु यह अधिक देर तक टिक न सका। बात यह है कि वैयक्तिक सम्पत्ति के व्यक्तिगत लोभ के समुद्र में जिसकी राज और रिवाज की ओर से छूट हो, साम्यवाद का टापू स्थापित नहीं किया जा सकता। अन्तिम उपदेश जो उन्होंने दिया वह यह था कि वैर—वैर से दूर नहीं हो सकता (न हि वैरेण वैराणि शाम्यन्तीह कुतश्चन)। इस संक्षिप्त वक्तव्य में हमें बुद्ध के कुछ एक आधारभूत दार्शनिक एवं सामाजिक उपदेश मिल जाते हैं। अब युद्ध के पश्चात् गांधीजी के अतिरिक्त कोई ऐसा अन्य महापुरुष नहीं हुआ जो सम्पूर्ण समाज को इतना महान् सन्देश दे सकता। उनके दर्शन में बुद्ध की मौलिकता नहीं। यदि दार्शनिक पृष्ठभूमि से अलग करके देखा जाय, तो महात्मा गांधी

की सत्य और अहिंसा एक व्यक्ति का वहम मात्र प्रतीत होगा। गांधी जी मानव मात्र के लिए हैं। उन्होंने जीवन भर बहुजनहिताय संघर्ष किया और बहुत जनों का हित ही उन्हें अभीष्ट था। मैं तो यहाँ तक कहने को तैयार हूँ कि इस उद्देश्य की पूर्ति में उन्हें अपने जीवन में बुद्ध से भी अधिक कष्ट सहन करने पड़े। मैं यह नहीं कहता कि यदि बुद्ध भी ऐसी ही परिस्थितियों एवं वातावरण में होते, तो वे भी ऐसा पग उठाते हुए हिचकिचाते। उन्होंने यात्री दलों पर घातक आक्रमण करनेवाले अंगुलिमाल का जान-बूझकर सामना किया। परन्तु बुद्ध के जीवन में ऐसे उदाहरण बहुत कम मिलते हैं। महात्मा जी को सैकड़ों बार लोगों को बचाने के लिए अपनी जान संकट में डालनी पड़ी। जाति-भेद को मिटाने एवं सहस्रों मनुष्यों का जीवन बचाने के लिए दक्षिण अफ्रीका में गांधी जी ने बोअरों के विरुद्ध अपनी जान की बाजी लगा दी। कलकत्ते, दिल्ली तथा अन्य स्थानों में साम्प्रदायिक सद्भावना स्थापित करने के लिए गांधीजी ने जितने प्रयत्न किये, उन्हें कौन नहीं जानता? वे एक महान् आत्मा हैं, इसमें कौन सन्देह कर सकता है?

व्यक्ति एवं सम्पूर्ण समाज से प्रेम करने की दृष्टि से वे दूसरे तथागत हैं। उनकी अवैर-भावना (अहिंसा) में अकर्मण्यता को स्थान नहीं है। वह तो दुर्बलता और आलस्य का चिह्न हैं। उनकी अहिंसा जिसने लाखों भारतीयों को कर्मक्षेत्र का आवाहन कराया, नकारात्मक सत्ता नहीं है, बल्कि वह एक निश्चित एवं सुदृढ़ शक्ति है। इस रूप में भी वे कर्म के शिक्षक हैं।

यद्यपि गाँधीजी परमात्मा और अपरिवर्तनशील जगत को मानने वाले दर्शन में विश्वास करते हैं, परन्तु अपने कार्यों में वे जड़ नहीं हैं। बहुजनहिताय का विचार उनकी नस-नस में बसा हुआ है जो अनजाने ही उन्हें अपने व्यक्तित्व में परिवर्तन करने को धीरे-धीरे

विवश करता रहता है। यह दुख की बात है कि उन्होंने बुद्ध के गति-पूर्ण दर्शन को अपना लक्ष्य मान कर ग्रहण नहीं किया। बहुत दिनों से गाँधीजी का एक नया रूप प्रकट हो रहा है, वे भारतीय जनता की राजनीतिक स्वतन्त्रता से ही संतुष्ट नहीं दीखते, वे उनकी आर्थिक स्वाधीनता के विषय में भी सोचने लगे हैं। उसी से वास्तविक सामाजिक क्रान्ति आयगी। बुद्ध के समान वे कुछ लोगों द्वारा अपने समाज पर प्रभुत्व और विषमता के शाप को अनुभव करने लगे हैं। वे खुले शब्दों में देशी राजाओं की निरंकुशता की भर्त्सना करते हैं। इससे हमारी महान् समस्याओं के विषय में उनके रुख का पता चल जाता है। वे समाजवाद की बात भी करते हैं, परन्तु ज्यादा जोर वे सत्य और अहिंसा पर ही देते हैं। कोई समाजवादी सत्य का शत्रु नहीं और न ही कोई समाजवादी हिंसा के लिये हिंसा चाहता है। वास्तव में समाजवादी या साम्य वादी हिंसा को आत्मरक्षा के साधन रूप में स्वीकार करते हैं और वह भी कब, जब समस्याओं के शान्तिपूर्वक समाधान के साधन बंद हो जाते हैं और आततायी हिंसक के रूप में खुला आक्रमण कर देते हैं।

निकट भविष्य में पूँजीपतियों और निरंकुश वर्ग के असहनीय विशेषाधिकारों को समाप्त करने के लिये महान् संघर्ष छिड़ने वाला है। मुझे पूर्ण विश्वास और आशा है कि वे अपनी अहिंसा की सक्रिय शक्ति के कारण वर्गगत आततायियों से कहीं अधिक बलवान् हैं। वे लहू की एक बूँद बहाये बिना जमींदारी की जर्जरित, निकम्मी प्रणाली का अन्त करके समाज में से सदा सर्वदा के लिये वर्गजन्य अत्याचार का अन्त कर देंगे। हमारे पास समय बहुत कम है। हम उनकी दीर्घायु की कामना करते हैं। परन्तु गाँधीजी के जीवन की सीमा तो है ही। क्या महात्माजी इस विषय में शीघ्र ही निश्चय कर लेंगे और उस महान क्रान्ति का, जो अहिंसात्मक होगी, नेतृत्व करके आर्थिक वर्ग भेद को समाप्त करके जनता को देश का वास्तविक स्वामी बनायेंगे। उनके

नेतृत्व ने भारत को राजनीतिक रूप से स्वाधीन कराया है। इतिहास और मानवता उनके इस नेतृत्व को सदा स्मरण रखेगी। यदि इस वृद्धावस्था में अपने परिपक्व अनुभव को लिये गाँधीजी भारतीय जनता को आर्थिक बन्धनों एवं वर्गजन्य अत्याचार से मुक्त करने में सफल हो गये तो वे ऐसा कार्य सम्पन्न कर जायेंगे जिसे अपनी सद्भावना के रहते बुद्ध भी नहीं कर पाये। यदि ऐसा हो गया तो मानव आनन्द की प्राप्ति में महात्मा गाँधी भगवान् बुद्ध से भी आगे बढ़ जायेंगे और इतिहास उनको इसी रूप में स्मरण करेगा।

[यह लेख मूलतः अँगरेजी में उस समय लिखा गया था जब गांधीजी जीवित थे। 'आज कल' (दिल्ली) वालों ने इसी का अनुवाद छापा था।]

'मेरी रगों में शाही रक्त बह रहा है'

श्रीमती मे वाइट के वे शब्द अब भी मेरे कानों में गूँज रहे हैं, जिन्हें ७२ साल की इस बुढ़िया ने २४ अगस्त १९५४ के दिन कहे थे। सभी को अपने वंश का अभिमान होता है, वृद्धों को तो और भी। मसूरी सवा सौ साल पुरानी नगरी है। १८१४ ई० में जब यह भाग नेपाल के हाथ में था, तो इस नगरी का कहीं पता नहीं था। पहाड़ में बहुत मजबूर होने पर ही आदमी ऐसी जगह गाँव बसाने के लिए मजबूर हुआ, इसका कारण भी था। जहाँ जाड़ों में बर्फ पड़ जाती है, बर्फ पड़ जाने पर यही नहीं कि हाड़ को चीरनेवाली सरदी पड़ने लगती है, बल्कि उस समय पशुओं की शामत आ जाती है। हरियाली ढँक जाती है, अधिकांश वृक्षों के पत्ते शरद के अन्त में ही झड़ जाते हैं, इसलिए पशुओं के लिए चारा जुटाना आसान काम नहीं। कुमाऊँ-गढ़वाल के शीत स्थानों के गाँववाले अपने पशु-प्राणियों के साथ घमतप्पी करने तराई में उतर जाते थे। मसूरी के आस-पास के गांव ४–५ हजार फुट से ऊपर नहीं थे। वह अपने पास की अधिक ऊँची अतएव अधिक सर्द जगहों का कोई इस्तेमाल नहीं करते थे, यह बात नहीं थी। बर्फ पिघलने के बाद यहाँ घास उग आती थी, जिन्हें चरने के लिए उनकी गाय-भैंसें यहाँ आ जाती थीं। आज जहाँ टेकारी की कोठी (एरिक्स ओन) है, वहाँ पास के गाँव वालों का १८१४ ई० में भैंस-वाड़ा था। यही बात श्रीमती मे वाइट के मकान में विलका भी है। मसूरी से दो मील पर अवस्थित यह बारलोगंज महल्ला ५००० फुट से अधिक ऊँचा नहीं है, इसलिए यहाँ बर्फ शायद ही कभी पड़ती है। जमीन भी यहाँ उतने खड़े पहाड़ों की नहीं है, इसलिये खेत आसानी

से बनाये जा सकते हैं। लेकिन १८५५ ई० में जब इस भूमि को मिस्टर हैदर हसी ने खरीदा था, उस समय उन्हें ख्याल नहीं था, कि उनकी नतनी यहाँ धान और मडुआ की खेती करने की बात भी सोचेगी।

इतना कहने से यह तो मालूम होगा ही, कि हमारी चरितनायिका कोई मेम होगी। मेम ही कह लीजिये, जब कौवे से भी काली हमारी कितनी ही उच्च शिक्षिता महिलायें भारत के स्वतन्त्र हो जाने पर भी नौकरों द्वारा 'मेम साहब' न कहे जाने पर आग-बबूला हो जाती हैं, क्योंकि 'मेम' कहे जाने के हक से वंचित होने को वह भारी तौहीनी समझती हैं? फिर श्रीमती मे वाइट तो छ ही पीढ़ी पहिले शुद्ध अंग्रेज माता-पिता की संतान हैं। यद्यपि उनका रंग हमारे साधारण गोरे रंग से अधिक साफ नहीं है, यह उनके कनिष्ठ पुत्र ह्यू को देखकर कोई नहीं कह सकता, कि वह शुद्ध यूरोपियन नहीं है। मुझे आजकल, खब्त कह लीजिये, मसूरी जैसे स्थानों के हाल के गड़े मुर्दों को उखाड़ने का खब्त सूझा है। १९२०–२२ में जब पहिले झोंपड़े इस पर्वतस्थली में पड़े, तब से १९४७ ई० तक न जाने कितने अंग्रेज नीचे धूप और गरमी से त्राण पाने के लिये यहाँ आकर रहे, पर वह सभी चिड़िया रैन बसेरा वाले थे। डिपो का कब्रिस्थान सबसे पुराना है, केमल्सबैक वाली सेमिटरी में भी सौ बरस तक पुरानी कब्रें मिलती हैं, पर इनमें से अधिकांश उन्हीं लोगों की हैं, जो हिन्दुस्तान में नौकरी या व्यापार से रुपया कमाने आये थे, और जिनका ख्याल अपने शरीर को इस काली भूमि में दबाने का नहीं था। यदि इस नगरी के सबसे पुराने लोगों के बारे में जानना है, तो श्रीमती वाइट के वंशवाले ऐंग्लो–इण्डियन लोगों के पास जाना होगा। अफसोस है, भारत के आजाद होने के बाद उनमें से अधिकांश देश छोड़ गये हैं। श्रीमती वाइट को ही ले लीजिये, उनके पाँच पुत्र-पुत्रियाँ जीवित हैं, जिनमें एक पुत्र मेजर न्यूजीलैंड में जा बसा, उससे छोटा कप्तान युद्ध में घायल हो इंगलैंण्ड गया,

और वहाँ किसी दूकान में काम करता है। तीन लड़कियाँ भी लंदन में बस गई हैं। सबसे छोटा पुत्र ह्यू उस दिन सबसे पहिले मुझे मिला और अपना परिचय देते बोला—कितने ही सालों विदेश में रह कर लौटा हूँ। मा ने बतलाया : ह्यू ब्याह करने जा रहा है। पर, वह उसके लिये खूँटा होगा, यह समझना भूल होगी, मेरे विलके निवासी दोनों बहिन-भाई शायद इस घर के अन्तिम निवासी हों, जीविका की तलाश में या अपने घुमक्कड़ी के चक्कर में आदमी सदा अर्धखाना-बदोश रहा—बल्कि जीविका के आकर्षण की डोरी उसे अधिक दूर दूर तक ले जाने में कारण हुई। भारत के स्वतंत्र होने के पिछले सात वर्षों में जो आधे से बहुत अधिक गोरे ऐंग्लो-इंडियन आस्ट्रेलिया, न्यूजीलैंड या खुद इंगलैंड भी चले गये, उसमें कारण यही जीविका की तलाश है। अंग्रेजों के राज्यशासन में इसमें शक नहीं, कि ऐंग्लो-इंडियन अछूत समझे जाते थे, पर शत-प्रतिशत वह भारतीयों के विरुद्ध इस्तेमाल किये जाने वाले विश्वसनीय हथियार के तौर पर इसे समझते थे, इसलिये उन्हें अधिकार दे रक्खा था, कि वह बाकी भारतीयों को अपने से नीच मानते व्यवहार करें। केवल इतना मानसिक परितोष ही नहीं पर्याप्त हो सकता था, इसलिये रेलवे जैसी कुछ नौकरियों में उनकी इजारादारी कायम कर तनखाह भी कालों से अधिक देते थे।

ऐंग्लो इण्डियन लोगों के साथ अंग्रेजों का बर्ताव यद्यपि अपमानपूर्ण था, पर आर्थिक तौर से वह अपने मातुल वंश से कहीं अच्छी हालत में थे। उन पर सांस्कृतिक रंग बहुत हल्का पड़ा है, इसकी शिकायत अक्सर सुनने में आती है, पर वह कुछ व्यक्तियों को देख कर एक सामान्य धारणा बना लेने से अधिक महत्व नहीं रखती। हाँ, उन्होंने देश की संस्कृति का अभिमान करना तो दूर, उससे सहानुभूति भी नहीं रक्खी, जिसका परिणाम हुआ, कि वह अपने देश में भी बेगाना हो गये। डाक्टर सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या ने मैक्सिको में ऐंगलदा-अमेरिकन

या युरो-अमेरिकन लोगों के रक्त-सम्मिश्रण से बनी जातियों और उनकी सामाजिक स्थिति का बहुत ज्ञानवर्धक वर्णन अपने एक लेख में करते हुए आज से चार हजार वर्ष पहिले आये आर्यों के रक्त-सम्मिश्रण से उत्पन्न वर्ण समस्या का चित्र खींचा है। शायद उस समय आर्यों और आर्य-इंडियन का सम्बन्ध ऐसा ही रहा होगा, पर आर्य भारत में चिड़िया रैन बसेरा वाले नहीं थे। उनके अपने मूल देश में प्रकृति और मानव शत्रुओं से त्राण पाने तथा सुलभ जीविका के खोज में ये आर्य यायावर भारत में अपने सारे परिवार के साथ आये थे—अर्थात् समुद्र पार हो उन्होंने अपने बेड़े को तोड़ दिया था, और चाहने पर भी फिर पीछे लौटने की गुञ्जाइश उनके लिये नहीं रह गई थी। आर्यों के बाद भी कितने ही शक, यवन, पार्थव, श्वेत हूण आदि जातियाँ उसी तरह यहाँ आ अपने बेड़े को तोड़कर बस गईं। उनके सामने भी यह वर्ण और वर्णसंकरता की समस्या कुछ समय तक रही, फिर समय ने उसे किसी रूप में हल कर दिया। वह हल यही था, कि अंग्रेज पहिले की आने वाली जातियों की तरह सपरिवार आ यहाँ अपने बेड़े को तोड़ कर बस नहीं गये। उनके बेड़े बराबर इस देश की अपार संपत्ति ढो-ढोकर विलायत पहुँचाते रहे। आरम्भ में उनमें से बहुत कम अपनी बीबियों को साथ लाते थे, इसलिये उन्हें भारतीय स्त्रियों को लेना पड़ता था। उस समय हरेक अंग्रेज पति अपनी भारतीय स्त्री को रखेल नहीं समझता था। उसका अपनी सन्तान के प्रति प्रेम था। पर, उसके कारण वह उनके लिये अंग्रेज़ या यूरोपीय समाज में उचित स्थान नहीं दिलवा सकता था। जैसा कि मैंने पहिले लिखा, एंग्लो-इण्डियन बनाने की प्रक्रिया कम्पनी के राज्य के साथ-साथ एक तरह बिल्कुल खतम हो गई। उसके बाद एंग्लो इण्डियन एक अलग जाति बन आपस में ही शादी करने लगे। काले खून के पुनः सम्पर्क न होने तथा कभी-कभी गोरे, नये या पुराने रक्त के आ मिलने से उनका वर्ण

अक्सर श्वेत से श्वेततर होता गया। उनमें कुछ, जो इङ्गलैण्ड जा बसे, वह अंग्रेज समाज में विलीन हो गये। हाल में भारत के स्वतन्त्र होने पर भविष्य से भयभीत हो कितने ही एंग्लो-इण्डियन-परिवार आस्ट्रेलिया, न्यूजीलैंड तथा दूसरे गोरे उपनिवेशों में चले गये। कलिंपोंग के एक एंग्लो-इण्डियन सज्जन ने अंग्रेज़ महिला से शादी की थी। वह सपरिवार आस्ट्रेलिया जाने वाले थे। वहाँ से मंजूरी भी आ गई, मगर जब आस्ट्रेलिया के कलकत्ता स्थित प्रतिनिधि ने पुरुष को काले रंग की सीमा से पार भर देखा, तो अपनी स्वीकृति वापस कर ली। इस भगदड़ के समय गोरे उपनिवेशों के प्रतिनिधियों में से कितनों ने खूब पैसे बनाये। एंग्लो-इण्डियन परिवार अपना सब कुछ बेंच कर चाहे जैसे भी हो, उपनिवेशों में जाने के लिये तैयार थे। पहिली झोंक में कुछ साधारण रंग के भी लोग निकल गये, पर जब वहाँ के लोगों को मालूम हुआ, तो रंग की छान-बीन में बहुत कड़ाई शुरू कर दी। सांस्कृतिक तौर से हमारे एंग्लो-इण्डियन ईसाई तथा चाल व्यवहार में बिल्कुल यूरोपियन थे। इसलिये उनके उपनिवेशीय यूरोपियन समाज में खप जाने में जरा भी कठिनाई नहीं हुई। पर वहाँ तो वर्ण-व्यवस्था जन्मना चल रही थी। जिस रंग के आधार पर चल रही थी, उसमें ये नवागंतुक नई समस्या पैदा कर देते। इसलिये अब साधारण रंगवालों के लिये वहाँ गुञ्जाइश नहीं है। हाँ, श्रीमती वाइट के कनिष्ठ पुत्र ह्यू जैसों के लिये रास्ता हमेशा खुला है।

श्रीमती वाइट मातृकुल से कुमारी हरसी के पास ३५-३६ एकड़ बहुत अच्छी जमीन है, जिसमें धान, मक्की, गेहूँ की अच्छी खेती हो सकती है और आबाद भूमि में होती भी है। वहाँ सेब, आलू आदि के अच्छे बाग लग सकते हैं, कुछ पेड़ लगे हुए भी हैं। बंगला १०० वर्ष पहिले वाजिदअली शाह की पुत्री के लिये बनवाया गया था, वह अब जवाब दे चुका है। उसका कितना ही भाग गिर चुका है और बाकी

बाँध-छानकर किसी तरह कुछ दिनों के लिये कायम रक्खा गया है। वह कह रही थीं—दाम एक लाख रुपया होगा, पर इसमें कुछ कम भी कर दिया जायेगा। आजकल के जमाने में खेती की जमीन पर आधा लाख देनेवाला भी कम या शायद ही कोई मिले। श्रीमती वाइट को इस बाप-दादों की जमीन ने ही पकड़ रक्खा है, नहीं तो वह अपने बाल-बच्चों समेत इंग्लैण्ड जा सकती थीं। आज ७२ साल की उमर में भी वह दिन भर खुरपा-कुदाल लिये अपनी जमीन में लगी रहती हैं। घर का सारा काम अपने हाथों करना पड़ता है। यह यातना है, जिससे मुक्ति उन्हें मिलनी चाहिये।

श्रीमती मे वाइट के कनिष्ठ सहोदर (आयु ७० साल) रेजिनाल्ड हरसी अपने पितृवंश को १५०० ई० तक ले जा इंग्लैंड के जमींदार थ्योफिलस हेरसी से जोड़ते हैं। जिसके पोते कर्नल हेरसी कंपनी की नौकरी में भारत आये। कर्नल के पुत्र जेनरल हेरसी को इस ऐंग्लो-इंडियन परिवार के जन्म देने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। लड़के का नाम हाइदर मुस्लिम संपर्क को बतलाता है। पर यह जेनरल का पुत्र द्वितीय हेरसी था, जिसके द्वारा शाही खून परिवार में आया।

तरुण हाइदर (हैदर) हेरसी १८५७ के स्वतंत्रता-युद्ध से कुछ पहिले लखनऊ में पुलिस के ऊँचे अफसर थे। छोटी उमर में भी ऐसे पद पर पहुँचना उनके लिये कठिन नहीं था। आखिर बाप के कुल की लखनऊ पर भारी धाक थी। इसी कारण वह महल के विश्वस्त पुरुषों के पहुँचने लायक कितने ही स्थानों में पहुँच सकते थे। एक बार अन्तःपुर के झरोखे से दो सुन्दर आँखें झाँकती दिखाई पड़ीं। देखते ही हेरसी के हृदय में प्रेम का संचार हो गया। लेकिन परम दुर्लभ पदार्थ हाथ कैसे लगे? इसके बाद हेरसी के पैर खुद-बखुद फिर अगले दिन वहाँ पहुँच गये। दो दिन, चार दिन उन आँखों को देखते हैदर हेरसी को पता लग गया, कि कामदेव के तरफ एक बाण

नहीं लगे हैं। तरुण आँखों ने बड़ी करुणा के साथ याचना की—"मुझे अपने साथ ले चलो।" अपने अन्नदाता की कन्या को, सो भी सुरक्षित अंतःपुर से निकालकर अपनी बनाना ऐसा काम नहीं था जिसके बारे में तरुण यक-बयक निश्चय कर बैठता। लेकिन इश्क का तकाजा हलका नहीं होता। हेरसी ने शायद अपने समवयस्क मित्रों से भी प्रोत्साहन पाया। पता लगा, कोई गाड़ीवाला फल-फूल या दूसरी चीजें लेकर रोज अन्तःपुर में जाता है। उससे बात-चीत की, सफलता पर ५० रुपया इनाम देने का प्रलोभन दिया। श्रीमती वाइट कह रही थीं—उस समय का ५० आज के ५०० के बराबर था, मैं समझता हूँ, वह ५००० के बराबर था। गाड़ीवान ने मान लिया। सलाह हुई, गाड़ीवान ने अपनी लड़की को अंतःपुर में भेजा। शाहजादी उसका कपड़ा पहिनकर चुपके से आ गाड़ी पर बैठ जायेगी। पीछे लड़की भी साधारण कपड़े का जुगाड़ करके निकल आयेगी।

तरुण शाहजादी को अपने सामने देखकर हेरसी ने अपार आनंद अनुभव किया, पर वहाँ आनंदविभोर होने के लिये समय कहाँ था? बेगम के कपड़े बदलवा मेम बनाया और दोनों तेज घोड़ों पर चढ़ उत्तर की ओर दौड़े। सीतापुर में उस समय एक गिरजा था, जिसका अर्थ है, वहाँ कुछ अंग्रेज और एँग्लोइंडियन परिवार भी रहते थे। उसी दिन गिरजे में जा बेगम से ब्याह कर लिया। श्रीमती वाइट का कहना है—ब्याह हो जाने के बाद पीछा करता बेगम का भाई सीतापुर पहुँचा। तरुण हेरसी ने कहा—"मैंने तुम्हारी बहिन से ब्याह कर लिया। हाजिर हूँ, चाहे जो करो, पर तुम्हारी बहिन विधवा हो जायेगी।" भाई इतना क्रूर नहीं होना चाहता था। वाजिदअली शाह के हरम में हजारों बेगमें थीं, उन्हीं में से किसी एक की यह भी लड़की थी। बाप को लड़की भगाने का क्षोभ हो सकता था, पर अब लखनऊ पर अंग्रेजों की गहरी छाया पड़ चुकी थी, वह वाजिदअली अपनी बावन गाड़ी

लड़कियों में से किसी एक के लिये अंग्रेज जेनरल के पुत्र का अनिष्ट करने की हिम्मत नहीं कर सकते थे।

१८५५ ई० में मेजर हाइदर हेरसी ने बारलोगंज में यह भूमि खरीदी। वहाँ बंगला बन जाने पर १८५८ ई० में वाजिदअली शाह की पुत्री मिसेज हेरसी मसूरी आई। यहीं उनका सारा जीवन बीता, और उन बेगमों की संतानें सातों द्वीपों में फैली हुई हैं।

नगनारायण तिवारी

अंग्रेजों ने जहाँ भारत में अपने नाम को अमर करने के लिये अपने नाम के शहर और कसबे बसाये, सड़कों और नागरिक भवनों के नाम अपने नाम से रखवाये, कितने पत्थर और धातु के अपने स्टेच्यु (मूर्तियाँ) स्थापित करवाये, वहाँ कितनी ही सुन्दर और सचित्र पुस्तकें भी छपवाईं, यद्यपि कागज की पुस्तकें सबसे अधिक भंगुर हैं, और आशा यही की जा सकती है, कि वह सबसे जल्दी नष्ट हो जायेंगी, पर इससे उल्टा भी इतिहास में देखा गया है। इतिहास के कितने ही लुप्त पन्ने मैगस्थनीज, फाहियान और स्वेन् व चांग के लिखे पन्नों से पुनरुज्जीवित हुये। सन् १६०७-८ में कलकत्ता की अंग्रेज कम्पनी थैकर स्पिंक ने दो चतुष्क आकार के आर्ट पेपर पर १००० चित्रों से अलंकृत दो जिल्दों एक में पुस्तक प्रकाशित की, जिसकी एक कापी कबाड़िया के यहाँ से मेरे हाथ में आई, मैंने उसके जिल्द १ के ३१५ पृष्ठ पर पढ़ा—"Babu Gajanand Sukhani of Sirsa District, Hissar, is Deputy manager, and the Assistants are Babu Surajmull Ladha of Sirsa and Pundit Nag Narayan Tewari of Rasulpur, District Saran. दार्जिलिंग के एक मारवाड़ी की बड़ी कोठी में सूरजमल लढा और नगनारायण तिवारी सहायक मैनेजर थे। बिहारी व्यवसाय में बहुत कम अपना जौहर दिखा पाते हैं, और उनमें भी ब्राह्मण, राजपूत और कायस्थ तो सबसे लद्धड़ हैं। लढाजी सहायक-मैनेजर के पद से बढ़कर क्या जाने अब लाखों के धनी महासेठ हो गये हों, पर नगनारायण तिवारी योग्य मैनेजर सिद्ध होने पर भी नौकरी छोड़कर छोटे

से भी मालिक बने हों इसमें सन्देह है। विहारियों में उस परम्परा और सहयोग का अभाव है, जो कि आदमी को आगे बढ़ाने के लिये अत्यन्त आवश्यक है पर, नगनारायण को यह भी बदा नहीं था, कि अपने उस पद पर भी बने रहते। अभी जवानी की सीमा को अच्छी तरह पार नहीं हुये थे, कि उनकी दोनों आँखें जाती रहीं। वह अपने लिये एक साधारणतया अच्छा घर ही बना सके थे, सो भी अभी बिल्कुल पूरा नहीं हुआ था, कि उनके परिवार पर यह वज्र गिरा।

× × ×

१९२१ का शायद जुलाई का महीना था, भादों की कृष्णाष्टमी से दो-चार दिन पहिले मैं दक्षिण की डेढ़ साल की यात्रा से असहयोग में भाग लेने के लिये परसा (एकमा) पहुँचा था। वहीं थाने के तरुण नेताओं ने कांग्रेस की सभा की, और मुझे भी बोलना पड़ा। इसी सभा में एक गंगा-जमुनी केसों वाले अधेड़ पुरुष को देखने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। देखने से वह आँख वाले मालूम होते थे, पर यह जानने में देर न हुई कि वह केवल देखने की हैं। उसके बाद तो वर्षों उनके साथ रहा। उनके गुणों से परिचित होने का मौका मिला। मैंने छपरा में पहुँचते ही निश्चय कर लिया था कि उसी भाषा में भाषण करूँगा, जो श्रोताओं की भाषा है और देखा कि पंडित नगनारायण भी छपरा की बोली (भोजपुरी) में ही बोलते हैं, हो सकता है। देखादेखी पहिले हिन्दी में भी बोलते रहे हों, पर मैंने उन्हें सदा अपनी बोली में बोलते देखा। भोजपुरी के अद्वितीय वक्ता चित्तू पांडे (बलिया) का मुकाबिला उनसे नहीं हो सकता था, पर नगनारायणजी वक्ता ही नहीं थे, बल्कि भोजपुरी गीतों के अच्छे गायक और कितने ही गीतों के रचयिता भी थे। कभी सोचता हूँ चित्तू पांडे के एक-दो भाषणों को रिकार्ड क्यों नहीं कर लिया गया? पर जब हिन्दी के अद्वितीय वक्ता पंडित माखनलाल चतुर्वेदी के भाषणों का रिकार्ड करने की किसी को सुध नहीं है,

तो अनाथ भोजपुरी के महान् वक्ता स्वर्गीय चित्तू पांडे की कदर कौन करता। साहित्यिक हिन्दी में धाराप्रवाह ललित भाषण देने में चतुर्वेदी जी अद्वितीय हैं, इसमें शायद किसी को सन्देह नहीं होगा। एक बार बंगला के एक साहित्यकार मुझसे कह रहे थे, कि जब कहीं बंकिम मुकर्जी का भाषण होता है, तो अध्यापक अपने छात्रों से कहते हैं–'जाओ, इस पुरुष का भाषण सुनो, इससे तुम्हें उतना लाभ होगा, जितना पचीसों पोथियों को पढ़ने से नहीं होगा।' नहीं, मालूम हमारे हिन्दी के अध्यापक अपने छात्रों को वैसा ही कह कर पडित माखनलाल का भाषण सुनने के लिये भेजते हैं या नहीं।

१६२१ के मध्य में जाते-जाते असहयोग का जोश अब उतना नहीं था, जितना उससे पिछले साल के अन्त में था। पर बिहार और उसमें भी उसका भोजपुरी जनपद ब्रंजे या चिनार के कोयले की आग जैसा था, जो एक बार सुलग जाने पर बुझने का जल्दी नाम नहीं लेता था। एकमा थाना को पंडित नगनारायण तथा दूसरे ऐसे तरुण कार्यकर्ता मिले थे, जो असहयोग की धुन को छोड़ने के लिये तैयार नहीं थे। उसी साल कातिक महीने की छठ का पर्व आया। पूर्वी भोजपुरी जनपद (प्राचीन मल्ल गणराज्य) में छठ को स्त्रियाँ बड़े धूम-धाम से मनाती हैं। हम दोनों उस दिन रघुनाथपुर थाने के किसी गाँव में शाम को सभा करके टिक गये थे। गाँव की स्त्रियाँ रतजगा करती किसी तालाब के किनारे जमा थीं। बहुत रात तक वह देवी माई का गीत गाती रहीं। रात दो घण्टे रही होगी। तिवारी बाबा ने कहा—'इनको गीत में अपनी बातों को समझाना चाहिये।' और वह पोखरे पर चले गये। उस समय उनके कंठ से निकला वह गीत मुझे भी बहुत प्रिय लग रहा था। मैं अपनी चारपाई पर पड़ा-पड़ा सुन रहा था। जब कहीं गाँव में पुरुषों की सभा होती, तो पर्दानशीन महिलायें उसमें बहुत कम आ पाती थीं, पर हम उनके लिये किसी घर के आँगन में सभा करते।

तिवारी जी केवल दूसरों को समझाने के लिये ही गीत और व्याख्यान नहीं देते थे, बल्कि उनको पूरा विश्वास था, कि गाँधी महात्मा के रास्ते से हम अंग्रेजों को अवश्य भगाने में समर्थ होंगे। १६२१-२२ में ऐसा विश्वास कितना असंभव मालूम होता होगा, इसे आज के पाठक भी समझ सकते थे। पर वह विश्वास व्यर्थ नहीं था, क्योंकि उसी ने अगली पीढ़ियों को आगे बढ़ने के लिये प्रेरणा दी। हमने अपने ही थाने को नहीं बल्कि पास-पड़ोस के थानों को भी जगाये रखने का जिम्मा ले रक्खा था। इसलिये सदा घूमते रहते थे। वर्षों साथ रहते कभी भी ऐसा अवसर नहीं आया, जब कि हममें वैमनस्य हुआ हो। कितने ही सालों काम करने के बाद घुमक्कड़ी का भूत सवार हुआ और मैं देश-विदेश मारा-मारा फिरने लगा। पर जब भारत में रहता तो छपरा और एकमा थाना गये बिना नहीं रहता। उस समय तिवारीजी उसी तरह अडिग मिलते। दोनों भाइयों के कई बच्चे थे, जो अब सयाने होकर खर्च को बढ़ाने में सहायक हुये थे। घर पर पहिली श्री नहीं दिखाई पड़ती थी, पर तिवारीजी के उत्साह में कोई कमी नहीं आ पाई। जब-जब जेल जाने का अवसर आता, तिवारीजी जरूर पकड़कर बन्दीखाने में भेज दिये जाते। पुलिस जानती थी, कि आँखों से अंधा होने पर भी यह आदमी ज्वाला का पुंज है। उसकी एक-एक बात गाँव के जनसाधारण के हृदय में सीधे उतर जाती है।

वर्षों बीतने पर तिवारीजी के चेहरे पर झुर्रियाँ पड़ गईं थीं। समय से पहिले ही बुढ़ापा आ जाना हमारे देश में साधारण सी बात है। फिर तिवारीजी का घर तो नाक को पानी से ऊपर रखने के लिये बराबर प्रयत्न करते व्याकुल था। जब कभी मैं एकमा जाता, तो तिवारीजी का आग्रह अपने यहाँ जूठन गिराने का जरूर होता, और उसके बिना भी मुझे उनके यहाँ जाने की इच्छा हो आती। उस समय मुझे और भी हजारों-लाखों देश भाइयों की तरह आशा थी, कि अंग्रेजों के

भारत से निकलते ही लोगों को कम-से-कम अन्न-वस्त्र की चिन्ता नहीं रहेगी, पर आज वह आशा दुराशा सिद्ध हो रही है।

सौभाग्य से तिवारी जी इस दिन को देखने के लिये नहीं रह गये, यद्यपि उन्होंने उनके मन में देश को स्वतन्त्र देखने की उत्कट लालसा थी। कौन अपनी तपस्या के फल को, अपने स्वप्न को जागृत अवस्था में देखने की इच्छा नहीं रखता। आज की अवस्था से उनकी चिन्ताओं में कमी होने की कोई आशा न रहने पर भी पंडित नग-नारायण यह देख कर अवश्य बहुत प्रसन्न होते कि अब वह अंग्रेज हमारे ऊपर शासन करने के लिये नहीं रह गये, जिनकी आरती उतारने और खुशामद करने में उनके मालिक लखपती सेठ तिनके से भी हल्के बन जाते थे।

पंडित नगनारायण तिवारी जैसे न जाने कितने हमारे देश में स्वतन्त्रता के अज्ञात सैनिक रहे, जिन्होंने देश को मुक्त देखने के लिये हजारों कुर्बानियाँ दीं, पर आज उनको लोग बड़ी तेजी से भूलते जा रहे हैं। दूसरे देशों में अज्ञात वीरों की स्मृति जीवित रखने तथा श्रद्धा के फूल चढ़ाने के लिये स्मारक समाधियाँ बनाई जाती हैं, लोग उनके प्रति अपना आदर प्रकट करते हैं, पर हमारे यहाँ तो मानो अभी वह पीढ़ी आई ही नहीं।

किशोरीदास वाजपेयी

आज की दुनिया में कितना अंधेर है, विशेषकर हमारे देश का सांस्कृतिक तल कितना नीचा है, इसका सबसे ज्वलन्त उदाहरण हमें पंडित किशोरीदास वाजपेयी के साथ हुये और होते बर्ताव से मालूम होता है। सभी प्रतिभायें सभी क्षेत्रों में एवरेस्ट शिखर नहीं होतीं, परन्तु जब किसी क्षेत्र में किसी पुरुष का उत्कर्ष साबित हो गया, तो उसकी कदर करना, उससे काम लेना समाज का काम है। आज बहुत थोड़े से लोग हैं, जो किशोरीदास की मान्यता को समझते हैं। उनमें भी बहुतेरे उनके अक्खड़ स्वभाव या ईर्ष्या से नहीं चाहते, कि लोग इस अनमोल हीरे को समझें, उसकी कदर करें। इसका परिणाम यह हो रहा है, कि हिन्दी उनकी सर्वोच्च देनों के द्वारा परिपूर्ण होने से वंचित हो रही है, और उन्हें लिखना पड़ रहा है : "मैं क्या गर्व करूँ! गर्व प्रकट करने योग्य चीजें तो मैं अभी तक दे ही नहीं पाया हूँ।" ('साहित्यिक जीवन के अनुभव और संस्मरण' पृष्ठ १३५)। वाजपेयीजी ५ बड़ी-बड़ी जिल्दों में हिन्दी को निर्वाचनात्मक (निरुक्तीय) कोश दे सकते हैं, पर उसकी जगह वह 'हिन्दी निरुक्त' के रूप में उसकी भूमिका भर लिख चुके हैं, वह हमें 'हिन्दी का महाव्याकरण' दे सकते हैं, पर यदि हमने उनके प्रति ऐसी ही उपेक्षा दिखलाई, तो 'राष्ट्रभाषा का प्रथम व्याकरण' से ही सन्तोष करना पड़ेगा, यद्यपि इसका यह अर्थ नहीं, कि वह व्याकरण बिल्कुल अपूर्ण है।

वाजपेयीजी किन विषयों पर अधिकारपूर्वक लिख सकते हैं, इसके बारे में उन्होंने स्वयं लिखा है : "मैं जिन विषयों पर कुछ अच्छा लिख

सकता हूँ, वे ये हैं—१ काव्य के तत्त्व, रस, अलंकार, शब्द-शक्ति आदि, २ हिन्दी का व्याकरण, ३ निरुक्त, ४ हिन्दी साहित्य का इतिहास, ५ बहु विज्ञापित हिन्दी का रहस्यवाद, ६ कांग्रेस युग का राजनैतिक इतिहास, ७ धर्मविज्ञान, ८ शब्द शिल्प। प्रायः इन सभी विषयों के नमूने मैं दे चुका हूँ। अब यह देश पर अवलम्बित है, कि मुझसे कोई काम आगे ले या न ले।" (वही १३०)। इन सभी विषयों पर अपने विशाल ज्ञान और सूझ के कारण वह कितनी ही नई चीजें दे सकते हैं, इसमें सन्देह नहीं, पर दो विषयों मे तो उनके समकक्ष इस समय हिन्दी में कोई नहीं है—व्याकरण और निरुक्त उनका यह लिखना बिल्कुल गलत है। "कोई मुझे गाली न दे कि वह इस विषय पर लिख सकता था, पर कम्बख्त साथ ही सब लेकर मर गया।" (वही पृष्ठ १३२)। वाजपेयी को लोग गाली नहीं देंगे, बल्कि आज के हिन्दी वालों को गाली देंगे। और विषयो पर काफी लिखा गया है, लिखने की क्षमता और रुचि रखने वाले लोगों की शायद कमी भी नहीं है। ये दोनों विषय तो अभी पूरी तौर से अवगाहन नहीं किये जा चुके हैं। यह केवल परिश्रम-साध्य नहीं है, इनके लिये प्रथम श्रेणी की प्रतिभा और साथ ही गंभीर अध्ययन चाहिये।

१९१९ ई० के पंजाब के मार्शल-ला के दिनों के एक सप्ताह पहिले लाहौर में शास्त्री परीक्षा हुई थी। इन पंक्तियों का लेखक भी उसमें वे० डी० ए० वी० कालेज से भेजे गये परीक्षार्थियों में से एक था। परीक्षा का परिणाम इस साल कितना कठिन था, यह इसी से मालूम होगा, कि हमारे कालेज से भेजे गये प्रायः एक दर्जन विद्यार्थियों में से एक भी पास न हुआ। मैं घर के इम्तिहान में प्रथम आया था, और चारों-खाने चित होनेवालों में भी प्रथम था। मार्शल-ला के समय में ही परीक्षा का परिणाम निकला, जिसमें उस साल शास्त्री में सर्वप्रथम आनेवाले छात्र का ामनथा—किशोरीदास। सभी विद्यार्थियों के

मन में जिज्ञासा थी, जलियांवाले भीषण हत्याकांड और शास्त्री परीक्षा के हत्याकांड में यह असाधारण सफलता-प्राप्त वीर कौन है। हमें यही मालूम हो सका कि, वह वृन्दावन का एक वैष्णव साधु है। उस समय हम यही आशा रखते थे कि किशोरीदास एक पुराने विचारों का, पुरानी पगडंडी पर चलने वाला हमारे सैकड़ों संस्कृत के विद्वानों में से एक होगा।

हाँ, अभी हम हम उसी युग में थे, जब कि संस्कृतज्ञ विद्वान् भी हिन्दी को उसी दृष्टि से देखते थे, जैसे हिन्दू-आंग्लयन लोग—गँवार और अ-संस्कृतों के प्रेम की भाषा, जिसमें पढ़ने और सुनने लायक कुछ भी नहीं है। अब भी उन लोगों के नाम-लेवा खतम नहीं हुये हैं। हाँ, अब उनकी बातें एक मनोरंजक उपहास की चीजें जरूर हैं, और वह अधिकतर उर्दू वालों के मुँह से सुनने में आती हैं। किशोरी दास को मथुरा-वृन्दावन के बैरागियों के सम्पर्क से हिन्दी (ब्रजभाषा) की कविताओं के साथ परिचय प्राप्त करने का अवसर मिल सकता था, पर उसके प्रति आदर तभी हो सकता था, जब कि वह किसी संस्कृत के पंडित को वैसा करते देखते। यह काम उनके लिये मधुसूदन गोस्वामी, किशोरीलाल गोस्वामी, राधाचरण गोस्वामी जैसे हिन्दी के स्वनामधन्य पितामहो ने किया। वाजपेयी जी लिखते हैं: श्री "किशोरीलाल गोस्वामी से इसलिये झगड़ बैठा था, कि मेरे एक वाक्य में 'दश प्रकार की भक्ति' के 'दश' को काट कर 'दस' गलत क्यों कर दिया गया। गोस्वामी जी उस समय (१९१६ ई०) मुस्करा कर केवल इतना बोले थे कि हिन्दी में "दश" की जगह "दस" ही चलता है। यह सब आगे मालूम हो जायेगा।" यह देखने में छोटी सी बात किशोरीदास जी के लिये बड़ी जबर्दस्त शिक्षा थी। वह समझने लगे, कि हिन्दी एकदम संस्कृत की चेरी नहीं है, इसलिये उस पर हर समय संस्कृत के व्याकरण को लादने की कोशिश नहीं करनी चाहिये। संस्कृतज्ञ हिन्दी लेखक अब

भी इस धींगा-मुश्ती से बाज नहीं आते। वस्तुतः इस दृष्टि को छोड़े बिना वह अनेक हिन्दी शब्दों का ठीक से निर्वचन नहीं कर सकते। जब उनका सामना हिन्दी शब्दों से पड़ता है, तो वह यह नहीं समझते कि मैं संस्कृत सार्वभौम के किसी छोटे-मोटे मांडलिक के सामने खड़ा हूँ। वह जानते हैं, कि हिन्दी अपने क्षेत्र में स्वयं सार्वभौम सत्ता रखती है, यहाँ उसके अपने नियम-कानून लागू हैं। हिन्दी में जो तत्सम (शुद्ध संस्कृत) शब्द आते भी हैं, वह संस्कृत की प्रजा नहीं बल्कि हिन्दी की प्रजा हैं, और उन्हें हर समय संस्कृत (व्याकरण) के कानून की दुहाई नहीं देनी चाहिये। किसी संस्कृत के पंडित से यह आशा करनी मुश्किल है। इसका यह अर्थ नहीं, कि वाजपेयीजी को इसके लिये अपने संस्कृत के ज्ञान को भुलाने की आवश्यकता पड़ती है। संस्कृत के व्याकरण और निरुक्त के आचार्यों ने धूप में अपने केश नहीं सफेद किये थे। उन्होंने अपने व्यापक अध्ययन और पर्यवेक्षण द्वारा कितने ही ऐसे नियमों का आविष्कार किया था, जो हर काल और हर भाषा के लिये आम तौर से तथा हिन्दी के लिये खास तौर से उपयोगी हैं। अपनी सवा सौ पृष्ठों की छोटी सी पुस्तक 'हिन्दी निरुक्त' में यास्क के बतलाये नियमों का उन्होंने बड़े चमत्कारिक रूप में इस्तेमाल किया है। यह सभी जानते हैं, कि पुराने अकाट्य नियमों का भी प्रयोग नई परिस्थिति में करना साधारण आदमी का काम नहीं है। पर, वाजपेयी जी केवल पुराणों की देनों से ही सन्तुष्ट रहनेवाले पुरुष नहीं हैं। अवधी के सुपुत्र, तथा व्रज और कौरवी के चिर और एकान्त निवास के समय उन्होंने जन-मुख से शब्दों को साधारण श्रोता के तौर पर नहीं सुना। उन पर उनके मनन का ही यह परिणाम है, कि वह हिन्दी की शब्दों की सात पीढ़ी तक की नब्ज पहिचानते हैं। पुराने शास्त्र वाक्यों और आज की जीवित शब्द-राशि की सहायता बिना हिन्दी का व्याकरण और निरुक्त पूर्ण रूप से निष्पन्न नहीं हो सकता। व्याकरण और निरुक्त दोनों बड़े ही नीरस विषय हैं,

पर किशोरीदास वाजपेयी के हाथ में पहुँच कर वह कितने रोचक हो जाते हैं, इसे उनके ग्रन्थों को पढ़नेवाले भली-भाँति जानते हैं।

मैंने वाजपेयीजी को व्याकरण और निरुक्त (भाषातत्व) के आचार्य के तौर पर ही यहाँ अधिक पाठकों के सामने रक्खा, पर वह साहित्य के भी आचार्य हैं। पंडित शालग्राम शास्त्री अपने समय के माने हुये सस्कृत के विद्वान् थे, वह अखिल भारतीय संस्कृति साहत्य सम्मेलन के सभापति भी बनाये गये थे। उनका संस्कृत पर भी कुछ छोह था, जिसका ही प्रमाण 'साहित्यदर्पण' पर उनकी हिन्दी में 'विमला' टीका थी। शास्त्री जी ने अपनी टीका में पुराने आचार्यों की बहुत कठोर आलोचना अ-भद्र भाषा में की थी। वाजपेयी ने उसे पढ़कर टीका के सुन्दर होने की दाद दी, पर साथ ही उनकी खूब खबर लेते हुए कहा—"खंडन स्वर्गीय साहित्यकारों की कृतियों का कीजिये, पर उनके लिये शब्द-प्रयोग तो शिष्ट-जनोचित चाहिये।" 'विमला' की कठोर आलोचना लेखमाला के रूप में बहुत समय तक निकलती रही। शालिग्राम शास्त्री और उनके अभिन्न मित्र पंडित पद्मसिंह शर्मा उससे बहुत तिलमिलाये। जवाब में दो-तीन लिखवाये भी, पर वाजपेयी के प्रहारों का उनके पास जवाब नहीं था। इस प्रकार स्पष्ट हो है, कि किशोरीदास रस और अलंकार के अखाड़े के भी भारी पहलवान हैं। असहयोग के जमाने में असहयोगी किशोरीदास ने 'रस और अलंकार' के नाम से एक ऐसी पुस्तक लिख डाली थी, जिसके सारे उदाहरण देश-भक्ति और स्वातंत्र्य-प्रेम से इतने ओत-प्रोत -- अपने ही रचे—थे, कि पुस्तक के छपते ही बम्बई सरकार ने उसे जब्त कर लिया। वाजपेयी जो साहित्य के भी आचार्य हैं, इसमें सन्देह नहीं है। इसे और स्पष्ट करने के लिये पंडित पद्मसिंह शर्मा के 'संजीवन भाष्य' पर उनकी आलोचनात्मक लेखमाला है। वाजपेयी के ऊपर 'वज्रादपि कठोराणि मृदूनि कुसुमादपि' की सूक्ति पूरी तौर से

चरितार्थ होती है। पद्मसिंह शर्मा का खूब खण्डन उन्होंने "बिहारी सतसई और उसके टीकाकार" नामक अपनी लेखमाला में छपाना शुरू किया, पर जब शर्मा जी का निधन हो गया, तो न छपे भाग को मंगवा कर नष्ट कर दिया 'जब सुननेवाला ही न रहा, तो बात करने का फल क्या ?' आज वाजपेयी जी प्यालों से नहीं लोटे से चाय पीते हैं और पीते वक्त एक टीस भरी आवाज में कह उठते हैं "शर्मा जी ने मुझे चाय पीना सिखा दिया" (पृष्ठ २६)।

हरेक असाधारण प्रतिभाशाली पुरुष में कुछ ऐसी विलक्षणता या अब्नार्मलिटी भी होती है, जिसे सभ्य गुणग्राही समाज को बर्दाश्त करने के लिए तैयार रहना पड़ता है और यह मँहगा सौदा नहीं है, क्योंकि थोड़ी सी नाजबर्दारी करके आप बहुमूल्य वस्तु प्राप्त कर रहे हैं। प्रतिभायें 'सात खून माफ' वाली श्रेणी में होती हैं। पावलोफ् लेनिन और बोल्शेविकों को हमेशा गालियाँ सुनाता रहता था। बोल्शेविक अभी अभी अधिकारारूढ़ हुए थे लेकिन लेनिन उसकी सारी कटूक्तियों को हँस कर टाल दिया करते थे और कहते थे, 'पावलोफ् जीवन और मनोविज्ञानों के ऐसे तत्वों का आविष्कार कर रहा है, जो अभी तक उद्घाटित नहीं हुआ था और जो मार्क्सवादी के भौतिकवाद का जबर्दस्त समर्थक है। यही प्रतिभाओं की कद्रदानी, उनकी नाजबरदारी और सब तरह से उनकी सेवा की भावना ही है, जिसके कारण बोल्शेविक आज ज्ञान-विज्ञान में दुनिया के अगुआ हैं।

किशोरीदास वाजपेयी के जीवन में हम क्या पाते हैं ? उन्हें अपने साहित्यिक जीवन के पिछले ही साल चिन्ता और आर्थिक संघर्षों में बिताने पड़े। भला जो नून, तेल लकड़ी की चिन्ता से परेशान हो, वह सरस्वती की एकान्त साधना कैसे निश्चिन्त होकर कर सकता है ? आश्चर्य है, इतने पर भी कई अनमोल पुस्तकें हमें दी हैं। हिन्दी साहित्य के कितने ही विषय हैं, जिन पर खुल कर लिखने के उनके जैसे

अधिकारी नहीं हैं। अपनी 'सार्वजनिक रूप से प्रकट की गई ·····'मेरी सफाई या वसीयतनामा भी समझ सकते हैं।' (वही पृष्ठ १३६)। अपनी सफाई में उन्होंने कबूल किया है "यह गर्व बहुत करता है (पर) गर्व की भावना प्रकृत या भगवान् ने पैदा की है। इस व्यक्ति का झगड़ालूपन ही वैसी असफलता का कारण है" (वही १३५, १३६ द)।

"गर्व करता है", "झगड़ालू है" कह कर हम किशोरी दास जैसी प्रतिभाओं की उपेक्षा करके आनेवाली पीढ़ियों के सामने मुँह नहीं दिखा सकते। किशोरीदास यदि चुपचाप चले जाते, जैसे बालू की पदरेख तो दूसरी बात है, पर उन्होने जो थोड़ी सी चीजें दी हैं, वह उनकी क्षमता का परिचय देंगी, और फिर उनके समकालीन हम अपनी जिम्मेवारी से मुक्त नहीं हो सकेंगे। इस वक्त हमें दसवीं सदी के अपभ्रंश के महान् कवि पुष्पदन्त याद आते हैं। वह भी उन्हीं दुर्गुणों के शिकार थे, जिनके हमारे वाजपेयी। पुष्पदन्त परिवार-मुक्त थे, यह उनके पक्ष में अच्छी बात थी, किशोरीदास भी कभी पुष्पदन्त के जैसे ही फक्कड़ हो घूमते रहे होंगे। आप नाजबरदार मंत्री भरत के पास अपने आने का यह वर्णन करते हैं—

"... ··, महि परिभमन्तु मेपाडि णायरु।

अवहेरिय खल-यणु गुण-महन्तु। दियहेहिं पराइयु पुप्फयंतु।

गुगम दीहरपंथेण रीणु। णव-यंदु जेम देहेण खीणु।"

धूलिधूसरित थके-मांदे कृशशरीर पुष्पदन्त को देख कर मंत्री ने पूछा, "क्यों किसी सुन्दर विशाल नगर में नहीं प्रवेश करते?" जिसके जवाब में अभिमान-मेरु पुष्पदन्त ने कहा—

"तं सुणइसुणिवि भणइ अहिमाणमेरु। वरि खज्जइ गिरिकन्दररि-कसेरु.

णउ दुज्जण-भउंहा-बंकियाइं। दीसन्तु कलुस-भावंकियांइं ··।

चमराणिल उड्डाविय गुणाइं। अहिसेय धोय सुयणत्तणाइ।

संपइ जण णीरसु णिव्विसेसु। गुणवन्तउ सुर-गुरु वि बेसु।

तहं अह्लइ काणणु जि सरणु। अहिमाणे सहुंब वरि होउ मरणु।"

धनियों और सामन्तों की नाजबरदारी करने से पुष्पदन्त ने गिरिकन्दरा के कसेर को खाकर कानन मे शरण लेना पसन्द किया था। वाजपेयी जो भी अभिमान-मेरु हैं, वह भी पुष्पदन्त के मार्ग को पकड़ सकते थे, पर परिवार की जिम्मेवारी जो सिर पर है, फिर उससे बढ़कर अपनी प्रतिभा के मूल्यों को समझते हुये हिन्दी को अपनी देनों से समृद्ध करने की तीव्र लालसा रखते हैं, इसलिये बहुत पहिले छोड़ आये पुष्पदन्त के मार्ग को अपना कैसे सकते हैं? एक पुस्तक आज लिखने के लिये भी बहुत सी पुस्तकों की आवश्यकता होती है। एक आवश्यक पुस्तक के बारे में उन्होंने (२६-७-५४) लिखा है: "बहुत दिन से मंगाने की इच्छा थी, पर इतने भी पैसे न बचा पाया।" कैसी विडंबना है। मैंने इस लेख को उनकी छोटी-सी जीवनी नहीं बनाना चाहा, फिर भी जन्मतिथि और जन्म-स्थान दे देना चाहता था। यह जानता था, कि वह उनके ऊपर मेरा कुछ लिखना पसन्द न करेंगे, पर मैं दुर्वासा के अभिशाप को ले सिर-माथे पर चढ़ाने के लिये तैयार था। उन्होंने मेरी जिज्ञासा की पूर्ति निम्न पंक्तियों में की (२६-७-५४):

"आपने मेरी जन्मतिथि पूछी है, जो मुझे मालूम नहीं, क्योंकि वह सब बताने वाले माता-पिता मुझे दस वर्ष का छोड़ स्वर्गवासी हो गये थे। अन्दाजा यह है, कि इस सदी से दो-तीन वर्ष आगे हूँ...मैं ५६-५७ का होऊँगा। पर यह सब आप किसलिये पूछ रहे हैं? मैंने आज तक कहीं अपना चित्र नहीं भेजा और मेरा व्यक्तित्व जो कुछ है, सब जानते हैं। कहीं कुछ छुपाना अनावश्यक है।"

यह दुनिया क्या एक क्षण के लिये भी बर्दाश्त करने लायक है? जहाँ अनमोल प्रतिभाओं को काम करने का अवसर न मिले, और ऐरे-गैरे-नत्थू-खैरे गुलछर्रे उड़ाते राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय मंच पर अपना नाच दिखलायें?

जायसवाल-संस्मरण

१६३३ से १६३७ में उनकी मृत्यु के समय तक डाक्टर काशी-प्रसाद जायसवाल के साथ मेरा बहुत घनिष्ठ संबंध रहा। अप्रेल से अक्टूबर तक मैं अपनी तिब्बत या दूसरी यात्राओं में रहता और साल का बाकी प्रायः सारा समय जायसवाल भवन मे बिताता। उस समय मुझे जायसवालजी को एक विचारक, एक इतिहासज्ञ, एक मानव के तौर पर निकट से देखने का मौका मिलता था। यह वस्तुतः सारस्वतगोत्री थे। विद्या के नवीन अनुसंधान में शरीर से ही विदेह नहीं हो जाते थे, बल्कि उनके लिये कोई चीज अदेय नहीं रह जाती थी। शायद १६३५ के जाड़ों ही की बात है। बाहर के संगमर्मर के चबूतरे के नीचे हरी घास पर एक ओर कुर्सी पर पड़े वह मुवक्किलों का काम देख रहे थे और दूसरी ओर मेरा कुछ लिखना-पढ़ना चल रहा था। इसी समय एक तरुण व गेरुआधारी साधु मुझसे (राहुलजी से) मिलने आये। मैंने कहा—'मैं ही हूँ', और वह मेरे पास बैठकर संस्कृत में बात करने लगे। इसी समय पटना के एक संस्कृत के प्रसिद्ध पंडित भी आ गये। ब्रह्मचारी ने उनसे शास्त्रार्थ छेड़ दिया—"खंडनं खंडखाद्य" वस्तुतः बौद्ध दर्शन का ग्रंथ है। मंगलाचरण और ग्रंथ के विषय से कोई संबंध नहीं। पंडितजी न्याय या व्याकरण में ले जाकर दबाना चाहते थे, किन्तु तरुण ब्रह्मचारी वहाँ भी कच्चा गोइयाँ नहीं दीख पड़ा। जायसवालजी मुवक्किलों का कागज पत्र देखते थे किन्तु उनका मन इधर था। थोड़े ही देर में पिंड छुड़ाकर वह यहाँ पहुँच गये। काफी समय तक प्रेमपूर्वक शास्त्रचर्चा होती रही। ब्रह्मचारी पाली पढ़ने के लिये बाहर जाना चाहते थे। मैंने सिंहल या वर्मा जाने के लिए कहा। वह सप्ताह भर या अधिक मेरे साथ

जायसवाल भवन में रहे। जायसवाल उस सीधे तरुण की प्रतिभा से प्रभावित हो बड़ी संवर्धना करते रहे। उनके लिये कम्बल-कपड़े मंगवा दिये। यदि वह बैरिस्टरी से काफी कमाते थे, तो उनका हाथ भी बहुत खुला था, और बड़े परिवार का ठीक तौर से चलाना श्रीमती जायसवाल का काम था। एक दिन हाईकोर्ट से लौटने पर उन्होंने कुछ रुपये लाकर चुपके से ब्रह्मचारी के हाथ में रख दिये—श्रीमती शायद उतना रुपया देना पसंद न करतीं, किन्तु जायसवाल तो मुग्ध थे उस सरस्वती-पुत्र पर।

मेरे पूछने पर अक्सर कहा करते थे—"मेरी विद्या और प्रतिभा कानून के लिये नहीं है, किन्तु क्या करूँ।" जायसवाल अपने ज्ञान और प्रतिभा का पूरा इस्तेमाल उस क्षेत्र में नहीं कर पाते थे, जिसके लिये कि वह बने थे। उन्होंने जो कुछ गवेषणा की, जो कुछ लिखा वह उस समय से बचाकर जो कि उनके पास सोने या विश्राम करने के लिये होता। शायद देश स्वतंत्र होता तो प्रतिभा का यह अपव्यय न होता। उस समय के शासक खुशामद चाहते थे, जिस गुण या अवगुण का उनमें नितान्त अभाव था। कभी-कभी वह समझौता करना चाहते थे, तो स्वभाव अनजाने ही धोखा दे देता, और फिर सब किया-कराया चौपट हो जाता। वह जानते थे, गौरांग प्रभुओं की कृपा से वह आसानी से हाईकोर्ट के जज हो सकते हैं, फिर काफी समय अपने इतिहास-अनुशीलन के लिये मिल सकता है, किन्तु स्वभाव को क्या करते?

उनके समय का यह अपव्यय राष्ट्रीय समय का अपव्यय था यह वह भली-भाँति समझते थे। इसलिए एक बार उन्होंने निश्चय कर लिया कि निर्वाह मात्र पर हिन्दू विश्वविद्यालय में चले जायँ। मित्रों को पत्र भी लिख दिये किन्तु हिन्दू विश्वविद्यालय से वैसा आग्रह नहीं हुआ, और इधर फिर घर की घटी-बढ़ी ने घर दबाया।

दिसम्बर १६३५ में मुझे टाइफाइड हो गया। उस साल ओरियंटल कान्फ्रेन्स मैसूर में हो रही थी। मुझे दो-तीन दिन हल्का बुखार रहा, पता नहीं

लग पाया था कि वह टाइफाइड है, तो भी वह जाने में आना-कानी करने लगे। मैंने जाने के लिये जोर दिया। लौटने पर मैं पटना अस्पताल में टाइफाइड लेकर पड़ा था—एक सप्ताह बेहोश रहा। उनके लौटने तक मैं उस अवस्था से बाहर आ चुका था किन्तु वह बहुत दुखी हो रहे थे—मैं क्यों छोड़कर गया। टाइफाइड से उठने के बाद थोड़ा समय ही विश्राम ले फर्वरी में मैं तिब्बत की तीसरी यात्रा के लिये नेपाल चला गया। कहने पर उत्तर दे दिया—वहीं थोड़ा विश्राम कर लेंगे। जायसवाल जी नेपाल के ऐतिहासिक स्थलों को देखना चाहते थे। नेपाल के मेरे मित्रों परिचितों ने विशेष कर राजगुरु पंडित हेमराज शर्मा के प्रयत्न से राज्य की ओर से उनके आतिथ्य का प्रबन्ध हुआ। नेपाल में एक जगह नाकटूटी मूर्त्तियों को देखकर मुझे संदेह हो गया कि यहाँ मुसल्मान आक्रमणकारी जरूर आये थे। ढूँढते हुये एक पुरानी वंशावली में चौदहवीं सदी के मध्य में एक बंगाली सुल्तान के तिरहुत के रास्ते नेपाल पर आक्रमण का उल्लेख मिला। फिर स्वयं भूचैत्य में शिलालेख के एक कोने में एक शिलालेख देखने में आया जिसमें उक्त आक्रमण का उल्लेख था। नेपाल के शासक और विद्वान् इसे स्वीकार करने को तैयार नहीं थे, कि हिमालय की यह अजेय भूमि किसी भी समय म्लेच्छों द्वारा पदाक्रान्त हुई। जायसवाल जी आये। राज्य की ओर से बहुत स्वागत-सत्कार किया गया। उन्होंने सब स्थानों को देखा। उक्त दोनों प्रमाण भी उनकी आँखों के सामने आये। शिलालेख का छाप भी लिया। पटना लौटने पर पत्रों के लिये जो वक्तव्य दिया, उसमें इस आक्रमण का उल्लेख कर दिया। नेपाल दरबार से उन पर बहुत जोर दिया गया कि वह अपने ग्रंथ में इसका जिक्र न करें, किन्तु वह सत्य के अपलाप के लिये तैयार न हुये।

जायसवाल को २२–२३ वर्ष काम के लिये मिले। जिसमें भी अधिक समय उनका कानूनी कागज-पत्रों को देखने या बहस करने में

जाता था। बचे हुये समय में उन्होंने अध्ययन, अनुसंधान का काम किया जो हमारे लिये कम नहीं है। चाहे भारत के प्रजातंत्रीय शासन के बारे में उनकी लेखनी का जौहर देखिये, चाहे खारबेल के शिलालेख में, चाहे मंजुश्री मूलकाव्य की दिस्टकूटी भाषा में लिखी इतिहास की पते की बातों को साफ करने को लीजिये, अथवा हिन्दूराज्य संस्था को। सब जगह उनकी मौलिक प्रतिभा की छाप मिलती है, उन्होंने स्वयं ही नये-नये तत्वों का आविष्कार नहीं किया बल्कि दूसरों के पथ प्रदर्शन का कार्य किया।

यह बड़ी प्रसन्नता की बात है कि, इस महान विद्वान् के नाम पर इतिहास के मौलिक अनुसंधान के लिये इस प्रतिष्ठान को स्थापित कर बिहार ऋषिऋण से उऋण हो रहा है।
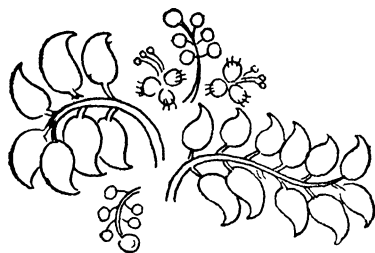
द्वितीय खण्ड

कला, इतिहास और धर्म

हमारे संगीत में अंधेर नगरी

इधर दो दशाब्दियों से भारतीय संगीत के धनी-धूरी हमारे फिल्म-उत्पादक तथा रेडियो विभाग हो गये हैं। फिल्म-उत्पादकों ने अपने सस्ते तथा कुरुचिपूर्ण संगीत द्वारा भारतीय संगीत की कितनी सेवा की है. इसे फिल्मवालों को छोड़कर हरेक विचारशील जानता है। चूँकि सुन्दर चेहरों, अर्ध-नग्न शरीरों, कामोत्तेजक गानों और उसी तरह के नाचों से आकृष्ट हो जनता सिनेमाघरों में काफी आ जाती है और फिल्म-उत्पादकों तथा प्रसारकों के पैसे खड़े हो जाते हैं, इसलिये वह समझते हैं कि हमारे फिल्म उत्कृष्ट भी हैं। मनुष्य में की निम्न प्रवृत्तियों से खुलकर फायदा उठाने का यदि मौका दिया जाय, तो ऐसी सफलता कहाँ नहीं मिल सकती? सिनेमा का उद्देश्य हीन रुचियो को प्रोत्साहित करना नहीं होना चाहिये, बल्कि उसके द्वारा मनोरंजन के साथ-साथ रुचियों के परिमार्जित होने का अवसर मिलना चाहिये। सिनेमा-वालों ने इस नवीन कला को हमारे देश में कितना चौपट किया, इसे कहने की आवश्यकता नहीं। लेकिन यहाँ मुझे उनके भारतीय संगीत के ऊपर किये आक्रमण को ही लेना है। जब सिनेमा के लिये सिनारियाँ लिखने के लिये किसी साहित्यकार की आवश्यकता नहीं है, तो सिनेमा के गानों के लिये भी किसी अच्छे गीतिकार या संगीतकार की क्या आवश्यकता? फिल्म-संचालक साहब सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् होकर जो अपनी कुर्सी पर बैठते हैं, वही आखिरी प्रमाण हैं। उनको न साहित्य से कोई मतलब है, न संगीत से। भारत के शासकों ने जब तक उन्हें मनमानी करने की छुट्टी दे रक्खी है, तब तक सस्ते कामुकतापूर्ण नाच-गानों और अर्धनग्न शरीर के बल पर वह पैसे कमा सकते हैं। वह किसी की उचित आलो-

चना को भी सुनने के लिये तैयार नहीं। ऐसे पेशे करनेवाले कहीं भी उचित बात सुनने के लिये तैयार नहीं होते, भला इनका क्या दोष है। यहाँ मैं स्पष्ट कर देना चाहता हूँ, कि हमारे सिनेमा-उत्पादकों में अपवाद नहीं हैं, यह बात नहीं है। और यह भी, कि प्रतिभा में हमारे अभिनय और संगीत के कलाकार दुनिया के किसी देश से कम हैं। लेकिन उन्हें जब अवसर मिले तब न!

सिनेमा-संगीत के गिरे हुए दल को देखकर जब रेडियो-विभाग ने उसकी मात्रा को कम करने का निश्चय किया, तो सिनेमा-उत्पादक बौखला उठे, और उन्होंने प्रस्ताव पास किया कि हम अपने फिल्मी रेकार्ड रेडियो को नहीं देंगे। यह स्मरण रखने की बात है, कि रेडियो के बायकाट की घोषणा हमारे यशस्वी फिल्म-उत्पादकों की ओर से हो रही है। फिल्म के गायक और गायिकायें अभी चुप हैं। उनकी सहानुभूति इस बायकाट के साथ नहीं हो सकती, क्योंकि वस्तुतः मजबूर करके उन्हें इतने हलके और सुरुचि-रहित गानों—गीतों को गाना पड़ता है। यदि बायकाट गंभीर हुआ, तो रेडियो-विभाग सीधे हमारे सुन्दर गायकों और गायिकाओं से उनके गानों को ले सकता है, और इससे श्रोताओं की कोई हानि नहीं हो सकती। वस्तुतः फिल्म-उत्पादकों की इस बायकाटवाली धृष्टता को देखकर हँसी भी आती है, और क्षोभ भी। सिनेमा-कला ने हमारे देश में संगीत के प्रसार और उत्थान का बड़ा सुन्दर अवसर दिया था, जिसका आरम्भ में कुछ उपयोग भी हुआ, किन्तु अन्त में सिनेमा फिल्म-सञ्चालकों की अंधेरनगरी ने उसे बहुत धक्का पहुँचाया।

हमारा संगीत ऐसी अंधेरगर्दी का शिकार केवल फिल्म-उत्पादकों की ओर से ही होता, तो भी खैरियत थी, लेकिन यहाँ तो "इस घर को आग लग गई घर के चिराग से।" स्वयं संगीत के कर्णधार हमारे संगीत की जड़ काटने को उतारू हैं। और आज नहीं, बल्कि बहुत

काफी समय से। 'कला कला के लिये' इस सूत्र को वह संगीत कला के क्षेत्र में बड़ी कड़ाई के साथ लागू करना चाहते हैं। वह संगीत को जन-मनोरंजन का उत्कृष्ट साधन न रहने देकर उसे कुछ और ही बनाना चाहते हैं। संगीत-प्रेम की उनकी नई व्याख्या से मुट्ठीभर लोग प्रभावित होकर उस्ताद के गर्दभ स्वर में उठती लम्बी तान को सुनकर वाह-वाह करने लग जाते हैं, इस पर वह फूलकर कुप्पा हो जाते हैं, और समझते हैं, कि हम ही महान् गायक हैं। अच्छे संगीत के लिये उनके यहाँ मधुर कण्ठ की आवश्यकता नहीं समझी जाती, और सप्तकों में ऊपर-नीचे चरमसीमा तक पहुँचने की होड़ को संगीत का आदिम और अन्तिम लक्ष्य मान लिया जाता है। भाड़ में जाये संगीत की जनप्रियता, उन्हें तो अपने गले की कसरत दिखलाने की वाहवाही लेनी है। मेरा तो धारणा है, कि प्रायः शत-प्रतिशत पुरुषों का कण्ठ अच्छे गाने के लिये अनुपयुक्त है। आश्चर्य तो यह है, कि मधुर कण्ठ रखनेवाली महिलायें भी इन अन्धे उस्तादों के पीछे चलने की, साथ चलने की होड़ करती हैं। रेडियो ने यदि इन्हीं उस्तादों के गानों को निम्नकोटि के फिल्मी गानों की जगह रखने का निश्चय किया है, तो यह दुर्भाग्य की बात है। उसके श्रोताओं की भारी संख्या इन मोटे गलों तथा कै करने के अनुकरणों को सुनना हरगिज पसन्द नहीं करेगी, वह भारतीय रेडियो को छोड़ शिलोन, पाकिस्तान या और जगह के रेडियो को सुनने लगेगी। हाल में जो परिवर्तन हमारे रेडियो प्रोग्राम में देखा जा रहा है, उससे उसी बात की पुष्टि होती है। यदि वह चाहती है, कि भारतीय संगीत को सुनने का लोगों को अवसर मिले और उनका प्रेम उसके प्रति बढ़े, तो गायक और गायिका के लिये पहली शर्त यह होनी चाहिये, कि उसका गला मीठा और सुरीला हो। दूसरी शर्त यह होनी चाहिये, कि वहाँ तान और अलाप के नाम पर कै नहीं होनी चाहिये, और न अलाप की मात्रा अधिक होनी चाहिये। अलाप भी साहित्य के अलंकारों की तरह स्वाभाविक रूप में ही

अच्छे लगते हैं। जिस तरह भोजन में चटनी या नमक-मसाला अल्प मात्रा में ही स्वाद को बढ़ानेवाला होता है, उसी तरह संगीत में अलाप भी है। जिस तरह संस्कृत और ब्रजभाषा के भी कवियों ने जबर्दस्ती अलंकारों को ठूँसकर कविता को भ्रष्ट कर दिया, उसी तरह उस्तादों ने हमारे संगीत के साथ किया है। उनकी यह सरासर अनधिकार चेष्टा है, यदि वे कहें कि अच्छे संगीत के पारखी संगीत में रुचि रखनेवाली बहु-संख्यक जनता नहीं, बल्कि हम हैं। कोई भी मानव यह नहीं कह सकता, कि हमारे रसगुल्ले के अच्छे बुरे होने के प्रमाण खानेवाले नहीं, बल्कि हम हलवाई हैं। ऐसा कहनेवाला हलवाई बहुत दिनों तक अपना टाट उलटे बिना नहीं रह सकता, लेकिन हमारे संगीत के हलवाइयों को इसकी परवाह नहीं है।

यह मैं मानता हूँ, कि उस्तादों की यह अनधिकार चेष्टा आज या आज से काफी पहले भारत में ही नहीं देखी जाती, बल्कि रूस या यूरोप के उस्तादों में भी यही गलती देखी जाती है। वहाँ भी गर्दभ स्वर से कै करनेवालों की कमी नहीं है। लेकिन हमें उनके रोब में नहीं आना चाहिये, यदि सत्संगीत को जनप्रिय बनाना है। ऐसे संगीत-प्रेमियों की हमारे देश में भारी संख्या है, जो कि यूरोपीय सस्ते गीतों की नकल पर बने तथा ऊलजलूल गानों को पसन्द नहीं करते, और जिनको विश्वास है कि हमारे शास्त्रीय संगीत में वह सारे गुण विद्यमान हैं, जिनसे वह जनप्रिय हो सकता है और मनोरंजन करने में भी वह फिल्मी गानों से पीछे नहीं रह सकता। लेकिन इसके लिये हमें शास्त्रीय संगीत में आ गई खुराफातों को हटाना पड़ेगा। आश्चर्य तो यह है कि जिन दोषों को संगीत-शास्त्रियों ने स्वयं बतलाकर गायकों को सावधान रहने के लिये कहा है, वही भूषण मानकर आजकल उस्तादी कला के नमूने समझे जाते हैं। हमारे उस्तादों में कितने हैं जो उद्‌घृष्ट, उद्‌घृष्ट, कम्पित करा, कम्पित करालो, काकी, करभ, उद्‌बड़, झोम्बक, प्रसारी,

विरस, अव्यक्त और सानुनासिक दोषों को नही दुहराते। संगीत शास्त्रियों ने अव्यक्त गान को दोष माना है, लेकिन क्या किसी भी आज के शास्त्रीय गायक के गाने को सुनकर आप समझ सकते हैं, कि वह कौन सा पद गा रहे हैं। हमें इन घर के शत्रुओं से भी संगीत की रक्षा करने की आवश्यकता है, नहीं तो रेडियो का सारा प्रयत्न निष्फल होगा, और निष्फल ही नहीं होगा, बल्कि वह अपने प्रोग्रामों द्वारा लोगों में शास्त्रीय संगीत के प्रति घृणा पैदा करने में सहायक होगा।

यहाँ प्रश्न हो सकता है, कि तब तो शास्त्रीय संगीत के निधिरक्षको-उस्तादों को धता बताना होगा, जिसके कारण शास्त्रीय संगीत की भारी क्षति होगी। लेकिन मै उस्तादों को धता बताने का पक्षपाती नहीं हूँ। उन्हें हम गायक नहीं मानते, तो इसका यह अर्थ नहीं कि उनका कोई दूसरा उपयोग नहीं हो सकता। वह संगीत के योग्य शिक्षक और निर्देशक हो सकते हैं। रेडियो में स्वयं न गाकर अपने मधुरकण्ठ शिष्य या शिष्या को शुद्ध संगीत गायन का निर्देश दे सकते है। हमारी शिक्षण संस्थाओं में संगीत का अधिक प्रचार कराने का अभ्यास होना चाहिये, और वहाँ हम उस्तादों को अध्यापक रख सकते हैं। रेडियो में संगीत शिक्षा का काम उन्हें दिया जा सकता है। इसमें भी कोई हरज नहीं है, यदि विशेषज्ञों की रुचि को तृप्त करने के लिए संगीत के अखाड़ों का आयोजन किया जाय, जिसमें निश्चय ही कलाविद उस्तादों की माँग होगी। आप चाहे जिस तरह उस्तादों का संरक्षण करें, उन्हें सम्मान प्रदान करें, लेकिन उनका ऐसा उपयोग नहीं होना चाहिये, जिससे शास्त्रीय संगीत हमारे समाज में अप्रिय हो जाय।

बुद्ध का दर्शन

बुद्ध का व्यक्तित्व समन्तभद्र, सर्वतोभद्र है। इतिहास में ऐसा व्यक्ति मिलना दुर्लभ है, जो प्रतिभा में, मधुर बर्ताव में, दीन-हीनों के प्रति, कार्यरूप में सम्वेदना दिखलाने में इतना ऊँचा हो, जितने कि भारत के सर्वश्रेष्ठ पुत्र और मानवता के सर्वोत्तम पथ-प्रदर्शक बुद्ध थे। ढाई-हजार वर्षों के अपनों और परायों के हाथों काई और मोर्चे ने जमा होकर उस पुरुषोत्तम के असली रूप को छिपाने की कोशिश की, लेकिन वह उसमें सफल नहीं हुये। जो सर्वतोभद्र है, उसके एक अंग को लेकर दौड़ पड़ना उचित नहीं हो सकता। कितने ही भारतीय विद्वान् हैं, जो जाने या अनजाने कह बैठते है, कि बुद्ध तो आचार पर जोर देते थे, वह सुकर्म-मार्ग पर लोगों को चलाना चाहते थे। इसमें शक नहीं, आचारशुद्धि या शील पर भी बुद्ध का बहुत जोर था। 'पर उपदेस कुशल बहुतेरे, जे आचरहि ते नर न घनेरे' की उक्ति के अनुसार आचरण हीन सिर्फ बात बघारने को वह कोई महत्व नहीं देते थे। केवल आचार-विषयक शिक्षा को ही ले लिया जाये, तो भी बुद्ध मानवता के महान् विचारक सिद्ध होते हैं। लेकिन हमारे समन्तभद्र की सर्वतोभद्रता इतने एक अंग में सीमित नहीं। शंकराचार्य ने, 'य आस्ते योगिनां चक्रवर्ती' कहकर बुद्ध को योगियों का सम्राट् घोषित किया। बुद्ध ने शीलस्कन्ध की तरह ही समाधिस्कन्ध पर भी ज़ोर दिया। समाधि या मनुष्य की मानसिक शक्तियों को अभ्यास द्वारा विकसित करना, एक ऐसी वस्तु है, जिसके पक्ष में जितना सत्य का आश्रय लिया जाता है, उससे कई गुना झूठ का प्रचार किया जाता है। मनुष्य की मानसिक शक्तियाँ वस्तुवादी दृष्टि से एक गम्भीर अध्ययन और अनुसन्धान के विषय हैं। इस दिशा में काम करना अवश्य होगा। समाधि

और योग सिद्धियों के बारे में आज के जमाने में हम तब तक कुछ नहीं कह सकते, जब तक कि विज्ञान की प्रयोगशालाओं में मानसिक शक्तियों के हरेक प्राकट्य या दावे का अनुसन्धान निष्ठुरता पूर्वक न किया जाये। लेकिन यह तो साफ है कि विरोधी भी जिसे योगियों का चक्रवर्ती कहते हैं, वह इस अंश में भी अपने को सर्वतोभद्र साबित करता है।

दर्शन से अनभिज्ञ ही नहीं, बल्कि दर्शन से जानकारी रखनेवाले भी कितने ही लोग बुद्ध के दर्शन की उपेक्षा करते बतलाना चाहते हैं, कि दर्शन से बुद्ध कोई सम्बन्ध नहीं रखते थे, वह तो केवल आचार धर्म का प्रचार करते थे। मैं तो कहूँगा बुद्ध की जितनी जबर्दस्त देन दर्शन में है, उतनी और किसी क्षेत्र में नहीं है—अर्थात् वह सबसे पहले दार्शनिक हैं, उसके बाद और कुछ। दूसरी शताब्दी के महान् विचारक नागार्जुन ने आम शिष्टाचार के अनुसार अपनी पुस्तक "विग्रह व्यावर्तनी" के आरम्भ में कोई मंगलाचरण नहीं किया, लेकिन ग्रंथ समाप्त करते-करते गद्गद होकर कहा :—

> यः प्रतीत्यसमुत्पादं मध्यमां प्रतीपदमनेकार्थाम्।
> निजगाद प्रणमामि तमप्रतिसम्बुद्धम्॥

मध्यमा प्रतिपद् (मध्यममार्ग) और प्रतीत्यसमुत्पाद बुद्ध-दर्शन के इन दो मूलतत्वों को यहाँ नागार्जुन ने पकड़ा और उनके बतलाने वाले बुद्ध को अप्रतिम (अद्वितीय) कहा। सचमुच ही यह ऐसे सूत्र हैं जिनसे बुद्ध के सारे दर्शन की व्याख्या हो जाती है, और साथ ही यह किसी एक देश या काल के लिये ही नहीं, बल्कि सभी देशों और कालों के लिये परमार्थ सत्य हैं। इन दोनों के साथ 'सब्बं अनिच्चं' (सर्वं अनित्यं) या 'सर्वं क्षणिकं' को ले लेने पर हमारे सामने बुद्ध का पूर्ण दर्शन चला आता है।

सभी वस्तुयें अनित्य (क्षणिक) हैं, क्षण क्षण परिवर्त्तनशील हैं, केवल ऊपर-ऊपर नहीं, बल्कि जड़-मूल से विनाशशील हैं। इस नियम को बुद्ध ने घोषित करके दुनिया को विश्व और उसके छोटे से छोटे अंश

(परमाणुओं) तक को क्षणभंगुर बतलाया। वेदान्ती या ब्रह्मवादी अद्वैती बाह्य विश्व के भीतर एक नित्य कूटस्थ ब्रह्म तत्त्व को मानते हैं। भौतिक जगत् उनके लिये माया मात्र है। वैशेषिक या पुराने ग्रीस के परमाणुवादी दार्शनिक बाह्य जगत् को क्षणभंगुर मानने के लिये तैयार थे, लेकिन अतोम (अछेद्य) या परमाणु उनके लिये नित्य और कूटस्थ था। बुद्ध और उनके अनुयायियों ने 'सब अनित्य है' के नियम में कोई अपवाद नहीं माना—बाह्य जगत् हर क्षण नष्ट होता रहता और उसका स्थान जो लेता है, वह भी अपने पूर्वज के अनुसार क्षणभर रहकर जड़-मूल से विलुप्त हो जाता है। बौद्ध दार्शनिकों ने इसे और स्पष्ट करते हुये घोषित किया, 'यत् सत् तत् क्षणिकं', अर्थात् जो भी सद्वस्तु है, वास्तविक सत्ता रखनेवाली चीज है, वह सभी क्षणिक, क्षण-क्षण विनाशी है। जो क्षणिक नहीं, वह सद्-वस्तु ही नहीं, वह वन्ध्यापुत्र और आकाशकुसुम की तरह केवल शब्दाडम्बर भर है। क्षण-क्षण विनाश विश्व का अटल नियम होने से वह हरेक वस्तु का सहज धर्म है। इसलिये बौद्ध दार्शनिकों ने विनाश को निर्हेतुक कहा—यदि दूसरे ही क्षण वस्तु का विनाश निसर्गतः होता है, तो उसके लिये किसी विनाशकर्त्ता की आवश्यकता नहीं। उसकी यदि आवश्यकता है, तो उत्पादन के लिये है। काष्ठ को अग्नि ने नष्ट कर दिया, इसकी जगह बौद्ध-दार्शनिक कहते हैं अग्नि ने कोयले का उत्पादन किया।

सारे बहिर् और अन्तर् जगत् के अनित्य और (क्षणिक) होने को सिद्ध करने के लिये बहुत प्रयत्न करने की जरूरत नहीं है। सारे प्रमाणों का प्रमाण और वस्तुतः एकमात्र प्रमाण प्रत्यक्ष है, जिसके क्षेत्र मे आनेवाली सारी वस्तुयें क्षणिक देखी जाती हैं। दूसरे नम्बर का प्रमाण अनुमान भी प्रत्यक्ष के पदचिह्न पर चलते उसी बात को सिद्ध कर सकता है। वस्तुतः अन्तर् जगत् और बहिर्जगत् का जितना भी अंश प्रत्यक्षगोचर है, वह क्षणिक ही दीख पड़ता है। लोग प्रत्यक्ष-अगोचर नहीं, बल्कि प्रमाण अगोचर तत्त्व को लाकर उसे नित्य कूटस्थ साबित करने की कोशिश

करते हैं। धार्मिक रूढ़ि और पक्षपात के तौर पर वह इसे भले ही मनवा ले, लेकिन सद्वस्तु के तौर पर उसे मनवाना असम्भव है। विश्व की क्षणिकता सर्वानित्यता के अकाट्य सिद्धान्त को स्वीकार कर लेने पर यह कहने की आवश्यकता ही नहीं रह जाती कि आत्मा या ईश्वर (ब्रह्म) जैसी सत्ता के बारे में बुद्ध का क्या विचार था। यदि आत्मा कोई तत्त्व है, तो उस पर बात करने के लिये बुद्ध तभी तैयार हो सकते थे, जब यह मान लिया जाय कि अनित्यता का नियम आत्मा पर भी लागू होता है, ईश्वर या ब्रह्म पर भी लागू होता है। बुद्धकाल में आत्मा का दार्शनिक सिद्धान्त माना जाता था, आत्मा में जीवात्मा (प्रत्यगात्मा) और परमात्मा दोनों ही सन्निविष्ट थे। ऐसे आत्मतत्त्व का प्रत्याख्यान करने से ही बुद्ध के दर्शन का अनात्मवाद कहा जाने लगा।

अपवाद-रहित सर्वानित्यता के सिद्धान्त को बुद्ध और बौद्ध दार्शनिकों ने अव्याहत गति से सभी क्षेत्रों में लागू किया। इससे अगले ही कदम पर फिर दूसरा दार्शनिक प्रश्न उठा—यदि सभी वस्तुयें बिना किसी अपवाद के क्षणभंगुर हैं, तो कार्य और कारण का क्या सम्बन्ध होगा। कार्य-कारण के सम्बन्ध ही से आखिर संसार का व्यवहार चलता है। हम जानते हैं, आम की गुठली अवश्य हमें आम का मीठा फल देगी, तभी हम गुठली को लगाते हैं; गेहूँ का बीज गेहूँ की फसल देगा, तभी हम उसे घर से निकाल कर खेत में डाल आते हैं। इससे कार्य-कारण का सम्बन्ध अटूट सिद्ध होता है। बुद्ध कार्य-कारण के सम्बन्ध से इन्कार नहीं करते, वह अपने प्रतीत्य समुत्पाद द्वारा कहते हैं कि इसके होने पर यह होता है (अस्मिन् सति इदं भवति)। कारण वह है, जो एक क्षण के अस्तित्व के बाद जड़-मूल से नष्ट हुआ। उसके तुरन्त बाद दूसरे क्षण में जिस वस्तु ने लुप्त वस्तु का स्थान लिया वही कार्य है। ऐसे कार्य-कारण सम्बन्ध को बुद्ध इन्कार नहीं करते। गेहूँ या आम की गुठली से फसल के नये गेहूँ और नये आम के फल के अस्तित्व में आने तक हर क्षण प्रकट और

विनष्ट होती कार्य-कारणों की अनगिनत पीढ़ियाँ (संततियाँ) लुप्त हो जाती बतलाते हैं, जिन्हें 'सदृश उत्पत्ति' (एक समान आकार में उत्पन्न होने) के कारण हम एक समझते हैं।

कारण कार्य के प्रतीत्य समुत्पाद—एक के अतीत (व्यतीत, प्रनष्ट, विनष्ट) होने के बाद दूसरे कार्य का उत्पाद होता है। इससे कोई यह न समझ ले, कि कार्य का एक ही कारण होता है और वह ईश्वर भी हो सकता है। बौद्ध दार्शनिकों ने इसी बात को और स्पष्ट करते हुये बतलाया कि दुनिया में कोई कार्य एक कारण (हेतु से) नहीं होता, बल्कि बहुत से हेतुओं की सामग्री (समूह) एक कार्य को पैदा करती है। गेहूँ या आम की गुठली अकेले चना के भाड़ फोड़ने जैसी शक्ति नहीं रखती। वहाँ जल, रासायनिक मिट्टी, ताप आदि कितने ही और हेतु जब एकत्रित होते हैं, तब कार्य उत्पन्न होता है। हेतु-सामग्री में यदि कोई एक छोटी- से छोटी चीज भी अनुपस्थित रहे, तो कार्य हर्गिज नहीं पैदा हो सकता। बौद्ध दार्शनिकों ने हेतु-सामग्रीवाद का जो प्रतिपादन किया, वही आधुनिक द्वन्द्ववादी दर्शन में परिमाण (समूह) का गुण में परिवर्तन है। दोनों जिस कार्य -कारण-सम्बन्ध को मानते हैं उसी के अनुसार वह इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं, कि कार्य अपने कारणों से बिल्कुल भिन्न होता है—अर्थात् वह असत्कार्यवाद का समर्थन करते हैं। जब विश्व और उसकी वस्तुएँ स्थावर नहीं, बल्कि अत्यन्त जंगम हैं, देश में ही स्थानान्तरित नहीं होतीं, बल्कि काल में अगले ही क्षण जड़-मूल से नष्ट हो जाती हैं, तो ऐसे जंगम तत्वों के सदा गतिशील होने के कारण स्वयं उनमें संयोग-वियोग हुआ करता है, जो स्वतः विश्व की सृष्टि और प्रलय करने के लिए पर्याप्त है। सर्वानित्यता का नियम विश्व की किसी घटना के लिये अपने से बाहर की किसी संचालित शक्ति की अपेक्षा नहीं रखता। इस तरह मालूम है कि सर्वानित्यता और प्रतीत्य समुत्पाद के सिद्धान्त कितने ठोस हैं। इनके सामने हमारे देश के नित्यवादी सर पटककर रह गये और उनकी एक न चली।

सर्वानित्यता, प्रतीत्यसमुत्पाद से आगे विश्व के प्रवाह को स्वीकार करते हुये यह मानना पड़ा कि यह प्रवाह तो है, लेकिन विच्छिन्न प्रवाह। अन्तर और बाह्य विश्व वस्तुतः घटनाओं का प्रवाह है। यही घटनायें वस्तु के स्वरूप के एक-एक विन्दु हैं। विश्व-प्रवाह एक अखण्ड ठोस रेखा नहीं, बल्कि एक दूसरे से अत्यन्त नजदीक रक्खे विन्दुओं का पाँती है जो दूर से देखने में ही रेखा मालूम होते हैं, नजदीक से वह अलग-अलग विन्दु हैं। यह विन्दु-प्रवाह की उपमा मनुष्य के शरीर पर भी घटित होती है और उसकी चेतना (विज्ञान) पर भी, जिसे गलती से कूटस्थ आत्मा कहा जाता है।

मध्यमा प्रतिपद् (मध्यम मार्ग) भी बुद्ध का एक ऐसा सिद्धान्त है जो आचार, दर्शन, सभी क्षेत्रों में एक-सा लागू होता है। यदि बुद्ध ने जीवन के सम्बन्ध में अति में न जाकर बीच का मार्ग (मध्यम मार्ग) पकड़ने के लिये कहा, तो दर्शन में भी उन्होंने मध्यमा प्रतिपद् को ही स्वीकृत किया। इसी को लेकर उन्होंने कहा, कि शरीर को सुखाना, अत्यन्त कष्ट देना भी एक अति और बुरा है, उसी तरह सब कुछ छोड़कर केवल शरीर के पालने-पोसने में लीन होना भी दूसरी अति अतएव बुरा है, आदमी को दोनों के बीच का रास्ता लेना चाहिये। दर्शन में उन्होंने स्कन्धों के अस्तित्व को माना, यद्यपि क्षणिक रूप से ही। यह समझ लेना चाहिये, कि क्षणिक होने से कोई वस्तु तुच्छ नहीं है, क्षण भर स्थिर रहना यही वस्तु का वर्त्तमान अतएव बहुमूल्य रूप है, यही नगद धन है। भौतिकवादी क्षणिकवाद दर्शन भी यह स्वीकार करता है, कि यद्यपि मूलभूत तत्त्व भौतिक रूप हैं, लेकिन क्षण-क्षण विनाश और परिवर्त्तन, परस्पर-विरोधी तत्त्वों के समागम से जो विकास-परम्परा प्रचलित होती है, उसी का परिणाम है भूतों से चेतना का प्रादुर्भाव होना। कार्य कारण से बिल्कुल भिन्न होता है, यदि चेतना अपने कारण भौतिक तत्त्वों से विलक्षण हो, तो इसमें आश्चर्य करने की जरूरत नहीं। द्वन्द्ववादी भौतिकवाद चेतना

विज्ञान) को भूतों (स्कन्धों) की उपज मानता है, किन्तु साथ ही चेतना को भूत नहीं मानता। बौद्ध दर्शन यद्यपि अपने को भौतिकवादी घोषित नहीं करता, लेकिन साथ ही वह आत्मवादी भी नहीं घोषित करता। वह यहाँ पर भी मध्यमा प्रतिपद् का अनुसरण करता है। वह चेतना को आत्मा कहकर उसे लोकोत्तर नहीं बनाना चाहता, और साथ ही उसे केवल भौतिक मानने के लिये भी तैयार नहीं। आज का सबसे उन्नत दर्शन—द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद—बुद्ध दर्शन के कितना समीप चला आता है। इसीलिये दर्शन के क्षेत्र में बुद्ध की देन को नगण्य माननेवाले हमारे तथाकथित दार्शनिक कितने भ्रम में हैं, यह भी अच्छी तरह समझा जा सकता है।

सब तरह से देखने पर बुद्ध समन्तभद्र, सर्वतोभद्र थे, इसे कहने की आवश्यकता नहीं। मानवता ने अपने इतिहास में ऐसा एक ही समन्त-भद्र पुरुषोत्तम पैदा किया।

साधु

आज दुनिया की जड़ हिल रही है। हर चीज का फिर से मूल्यांकन हो रहा है। सहस्राब्दियों पुरानी अति सम्मानित संस्थायें और पद्धतियाँ सूखे तिनके की तरह उड़ाई जा रही हैं। ऐसे समय साधुओं की भी फिर से मूल्य-परीक्षा हो, तो कोई आश्चर्य की बात नहीं है। हमें उन लोगों से कुछ कहना नहीं है, जो कि अपनी सनातनता के ऊपर तने हुए हैं, और जो यह समझ पाने की तकलीफ गवारा नहीं करते, कि ऐसी सनातनता अनेक बार झूठी साबित हुई है। आज से नौ शताब्दियों पूर्व भी अफगानिस्तान एक हिन्दू देश था, वहाँ भी बड़े-बड़े मठ थे, कितने ही पहुँचे हुए संत-महात्मा थे, यही अवस्था मध्यएशिया की थी, जावा में भी ब्रह्मभूत मुक्तात्माओं की कमी नहीं थी, लेकिन अब उनके अस्तित्व का परिचय वहाँ कुछ बचे-खुचे अभिलेखों और ध्वंसावशेषों से मिलता है। धर्मकीर्ति का वाक्य—'अर्थक्रियासमर्थं यत् तदत्र परमार्थसत्' ठीक मालूम होता है। परमार्थरूपेण अपनी सत्ता को आप तभी कायम रख सकते हैं, जब कि आप अर्थक्रिया-समर्थक हों। यदि पिछले दो हजार के अपने देश की साधु-संस्था के इतिहास पर हम नजर डालते हैं, तो मालूम होता है, कि साधुओं ने व्यर्थ ही राष्ट्रपिंड को नहीं खाया। उन्होंने इतने ही क्षेत्रों में राष्ट्र की सेवा की, इसी कारण इतना बदनाम किये जाने पर भी अभी वह अपने अस्तित्व को कायम किये हुए हैं।

लेकिन अब नई परिस्थितियाँ उत्पन्न हुई हैं, जिनमें साधुओं को अपने मार्ग पर फिर से विचार करने की आवश्यकता है। उन्होंने अब तक किन क्षेत्रों में अपनी सेवायें प्रदान कीं? आध्यात्मिक जीवनचर्या में उन्होंने पथ-प्रदर्शन किया, और अब भी कर रहे हैं, अभी भी इसमें

आकर्षण है किन्तु इस आध्यात्मिक जीवन में अनुरक्त अब अधिकतर वह वर्ग मिलता है, जिसके पीछे डंडा लिए हुए सारी दुनिया का बहुजन पड़ा हुआ है—मेरा अभिप्राय यहाँ सेठों और सामन्तों से है। यदि साधुओं को सेठों और सामन्तों के साथ ही गठबन्धन करके रहना है, तो यह भरे घड़े गले में बाँधकर नदी तिरने जैसा ही है। आध्यात्मिक जीवन अपने व्यापक अर्थ में उस समय भी कितने ही लोगों को आकृष्ट करता रहेगा, जब कि समाज में सेठों और सामन्तों का अस्तित्व नहीं रह जायेगा, किन्तु वह पाखंड और वंचना के रास्ते से नहीं। यह कट्टर से कट्टर भौतिकवादी वैज्ञानिक भी मानने के लिए तैयार है, कि मनुष्य अर्थात् मन के बारे में अभी हमारा उतना भी ज्ञान नहीं है, जितना कि जड़ जगत् के मूलभूत तत्वों के बारे में है। मन की शक्तियाँ अमित और अपरिमित हैं। उनके बारे में बहुत अनुसंधान करना है, और उनमें से कुछ को हमारे देश के पुराने साधकों ने पहचाना भी होगा, किन्तु आज ऐसी किसी अद्भुत शक्ति का दावा करना बेकार है, जब तक कि हम उसी तरह उसे कसौटी पर कसवाने के लिए तैयार नहीं हैं। त्यागमय जीवन, परमोदारता आदि भी आध्यात्मिक उच्च जीवन में सम्मिलित हैं, और इनकी कदर हमेशा रहेगी।

आध्यात्मिक क्षेत्र के अतिरिक्त दो और महत्वपूर्ण क्षेत्र थे, जिनमें साधुओं ने बहुत काम किया। वह हैं सहयात्रायें और प्राचीन विज्ञान की अध्ययन-अध्यापन द्वारा रक्षा। अपनी साहस-यात्राओं के कारण देश से कूपमंडूकता दूर करने का प्रयत्न साधुओं ने पिछले ढाई हजार वर्षों में इतना किया है, कि यदि प्रामाणिक सामग्री के बल पर उसका इतिहास लिखा जाय, तो यह बहुत गौरव-प्रदर्शक होगा। हमारे यह घुमक्कड़ साधु परमोदार होते थे। अपने-अपने सम्प्रदाय में रहते भी उनमें धार्मिक कट्टरता नहीं थी। आशा है भविष्य फिर साधुओं को उतना ही उदार बनायेगा। उदासी, संन्यासी, बैरागी आदि साधु ही नहीं, इस विशाल

परिवार में बौद्ध-भिक्षु भी एक अभिन्न अंग है। बल्कि पूर्वी मध्यएशिया चीनी-तुर्किस्तान में यह बन्धुता का नाता बौद्ध-भिक्षुओं ने ईसाई साधुओं तक के साथ भी जोड़ा था। इस्लामी गाजियों ने जब तलवार के बलपर प्राचीन साधु-संस्थाओं को नष्ट करना चाहा, तो उस समय बौद्ध और ईसाई साधु एक जगह पाये गये। वर्तमान शताब्दी के बहुत से गवेषकों ने एक ही जगह अनेक बौद्ध और ईसाई साधुओं की कतल की हुई लाश को पाया। जब मध्य-एशिया में उनके रहने के लिए स्थान नहीं रह गया, तो भिक्षु जब लदाख जैसे बौद्ध देश की ओर भागने लगे, तो उन्होंने अपने ईसाई साधु-बन्धुओं को गाजियों के हाथ कतल होने के लिए नहीं छोड़ा, बल्कि वह उन्हें भी हिमालय के अनेक दुर्गम डांडोको लांघते लदाख ले गये, जहाँ ईसाई साधुओं के पाषाण-चिह्न मिले हैं। इसी मानसिक संकीर्णता के न होने के कारण भारत से दूर दूर के देशों तक के साधुओं ने अपनी सर्वप्रियता कायम की, और बिना किसी भौतिक संबल के चारों मुलुक जगीरी में समझे। कहाँ है रूस की वोल्गा नदी, और कहाँ भारत। उस साधु को किन्तु कोई अड़चन नहीं पड़ी, जब उसने रूसी भक्तों को आकृष्ट करके उनमें संतों की वाणी का प्रचार किया। वर्तमान शताब्दी के आरम्भ में भी बिना अर्थ समझे अपने गुरु के सिखलाये शिव-पार्वती के भजनों को रूसी नर-नारी अपने सतसंगों में गाया करते थे। वायु रूस की ज्वालामाई कांगड़े की ज्वालामाई से भी बड़ी समझी जाती रही। वहाँ भी हमारे कितने ही संत पहुँचे थे, जिनमें कुछ ने वहाँ के मठ में अपने शिलालेख गुरमुखी, हिन्दी और उर्दू अक्षरों में छोड़े हैं। १६३५ ई० में अभी उनकी धूनियों की राख भी मैंने वहाँ देखी थी। हमारे एक साधु नरेन्द्रयश ने ईसा की छठी सदी के मध्य में साइबेरिया के विशाल सरोवर बाइकाल तक धावा मारा था। यद्यपि हमारे साधु घुमक्कड़ों ने अपनी सुदीर्घ तथा अद्भुत यात्राओं का विवरण उसी तरह नहीं लिख छोड़ा है, जिस तरह फाहियान्, हुनसांग

और इत्सिंग ने। लेकिन अपनी मूक साधना द्वारा उन्होंने हजारों के हृदय में प्रेरणा दी, उनका पथ-प्रदर्शन किया। यदि वह अपनी यात्राओं को लेखबद्ध नहीं कर सके, तो उसका दोष हमारे तत्कालीन समाज का है, जिसमें उनकी कदर नहीं थी। साधुओं का यह साहसमय घुमक्कड़ी जीवन सदा उनके लिए खुला रहेगा। हाँ, अब उन्हें आधुनिक साधनों से सम्पन्न होकर इन यात्राओं को करना होगा, और उसकी अवधि में उसकी सीमा में हिमालय के उच्चतम शिखरों, दिगंत के द्वीपों, तथा सभ्य मानवता की पहुँच से बाहर के भूभागों को भी सम्मिलित करना होगा।

प्राचीन विद्या तो जान पड़ता है अब ब्राह्मणों के पास नहीं, बल्कि साधुओं के पास ही पहुँचकर प्रार्थना कर रही है—"विद्या ह वै साधुनरग आजगाम, गोपाय मां शैवधिष्टे हमस्मि।" संस्कृत के पठन-पाठन और संरक्षण का काम अभी तक सबसे अधिक ब्राह्मणों ने किया। यद्यपि उसमें साधुओं का हाथ कम नहीं था। विशाल बौद्ध और जैन वाङ्मय तो केवल साधुओं की देन है। लेकिन आगे नून-तेल-लकड़ी इतनी महंगी हो गई हैं, कि अब आशा नहीं है, ब्राह्मण और अधिक दिनों तक इस भारी बोझ को अपने ऊपर उठा सकेंगे। बनारस और दूसरे संस्कृत विद्या के केन्द्रों में हम देख ही रहे हैं विद्यार्थियों की संख्या का कितनी तेजी से ह्रास हो रहा है। जिन अन्य क्षेत्रों में पचास-पचास विद्यार्थियों को भोजन मिलता था, उनमें से कितने ही बन्द हो गये, कितने ही बन्द होनेवाले हैं, और कुछ में अन्न की महंगी के कारण पाँच विद्यार्थियो को किसी तरह भोजन दे दिया जाता है। जमींदारों-जागीरदारों, राजा-महा-राजाओं के अन्य क्षेत्र, या वृत्ति देनेवाले विद्यालय रह सकते, इसे कहने की आवश्यकता नहीं। सेठ अवश्य पहले से भी अधिक शक्ति सम्पन्न हैं, और यदि चाहें, तो वह क्षेत्रों की संख्या बढ़ा सकते हैं। लेकिन सेठ भी अब यह देखते हैं, कि कैसे दान में उन्हें तुरन्त कल्याण प्राप्त होगा, इसलिये संस्कृत के विद्यार्थियों की ओर सेठों की आनेवाली पीढ़ी और

अधिक ध्यान देगी इसकी सम्भावना नहीं। फिर सेठों को भी कुछ ही समय में वहीं पहुँचना है, जहाँ कि सामन्त जा रहे हैं, इसलिये वह कटी डार हैं। संस्कृत के विद्यार्थी वही ब्राह्मण-पुत्र होते थे, जिनके पास अर्थकरी विद्या प्राप्त करने के लिए धन और साधन नहीं था। गरीब विद्यार्थी का जीवन बिताकर जो ऊँचे दर्जे के पण्डित हुए, उन्होंने सदा अपने लड़कों को संस्कृत नहीं अंग्रेजी पढ़ने में लगाया। यह क्यों? इसीलिए कि वहाँ धनागम अतएव सुख और सम्मान के जीवन की बड़ी सम्भावना थी। उनका लड़का वकील, इंजीनियर या डाक्टर होकर खूब नाम और पैसा कमा सकता। पहले अर्थकरी विद्या की तरफ जाने में एक बड़ी दिक्कत थी भाषा की, क्योंकि माध्यम अंग्रेजी थी, जिस पर अधिकार प्राप्त करने में एक युग लग जाता था। इसीलिए आगे चलकर विद्यार्थी दिशा नहीं बदल सकते थे। अब सभी विद्यायें हिन्दी या अपनी मातृ-भाषा में पढ़ने को मिलेंगी, जिसके कारण संस्कृत की तरफ जानेवाले विद्यार्थियों का भी रास्ता सुगम हो गया है। पुरानी पीढ़ी के अंग्रेजीदान यद्यपि अब भी अंग्रेजी से चिपकाए रखना चाहते हैं, लेकि भावी सन्तान उनके इस प्रयत्न को विफल करना चाह रही है, यह तो अभी दिखलाई पड़ रहा है। चीन, जापान, रूस, जर्मनी, फ्रांस कहीं पर भी विद्वान् होने की कसौटी अंग्रेजी नहीं मानी जाती, फिर अंग्रेजों के चले जाने के बाद भी उसे हमारे देश में क्यों कसौटी माना जाय। देख ही रहे हैं, कि अब इन बूढ़ों की नहीं चल रही है, तभी तो पी० एच० डी० और डी० लिट् के निबन्ध अब हिन्दी में लिखे जा रहे हैं। अंग्रेजी के माध्यम द्वारा संस्कृत पढ़ाने का भी रवाज छूट गया है। हाँ, अभी भी विशारद पास को मैट्रिक या एफ० ए० में अंग्रेजी लेकर परीक्षा पास करना आवश्यक समझा जाता है। साहित्यरत्न या शास्त्री पास को अंग्रेजी में बी० ए० पास करना पड़ता है, तब जाकर उसे दूसरे विद्यार्थियों के समान एम० ए० में सम्मिलित होने का अवसर मिलता है। यह अपमानजनक और

निर्बुद्धितापूर्ण काम है, इसमें सन्देह नहीं। अंग्रेजी ही विद्वता की कसौटा है, यही दास मनोवृत्ति इसके द्वारा दिखलाई जाती है। मैं अंग्रेजी का बायकाट करने का पक्षपाती नहीं हूँ। हमारे दृष्टिकोण और ज्ञानक्षेत्र का और विस्तृत करने के लिए हमें समुन्नत विदेशी भाषाओं का भी अध्ययन करना चाहिये, लेकिन दुनिया में अंग्रेजी ही सबसे अधिक समुन्नत भाषा नहीं मानी जाती, कितने ही विषयों में रूसी और जर्मन उससे कहीं आगे बढ़ी हुई हैं। इसलिए अंग्रेजी के साथ इतना पक्षपात क्यों?

अस्तु, यह तो साफ दीखता है, कि संस्कृत की तरफ आनेवाले विद्यार्थियों की भारी संख्या हिन्दी या मातृभाषा के माध्यम होने के कारण अब आधुनिक विद्याओं की तरफ जायेगी. और संस्कृत के विद्यार्थियों की संख्या दिन-पर-दिन कम होती जायेगी। शास्त्रों के गंभीर विद्वान् और भी कम होते जायेंगे। घर-गृहस्थी के बोझवाले आदमी अब चालीस-चालीस वर्ष की उमर तक संस्कृत के शास्त्रों के अध्ययन में अपने को नहीं खपायेंगे। मुझे तो यह साफ दीख रहा है, कि अब संस्कृत के गम्भीर विद्वान् साधुओं में ही हो सकेंगे, क्योंकि वह यावज्जीवन विद्यार्थी रह सकते हैं। हमारी प्राचीन पण्डिताई की गम्भीरता के साथ-साथ आधुनिक अनुसंधान के ढंग को भी अपनाना होगा, इस महान् कर्त्तव्य को अब साधुओं को पालन करना है। साधुओं का भविष्य अति समुज्ज्वल है।

जय लुम्बिनी !

पिछले ढाई-तीन हजार वर्षों के ऐतिहासिक युगमें बुद्ध सर्वश्रेष्ठ पुरुष हैं, यह दुनिया के सभी विद्वानों, मनीषियों और तत्वचिंतकों की राय है। बुद्ध ने कभी किसी के अवतार होने का दावा नहीं किया। उनके लिये सबसे सम्मानकी चीज द्विपदोत्तम, और नरसिंह ही मानी गई। भगवान उस समय की भाषा में सत-महापुरुषों को सम्मान दिखलाने के लिये इस्तेमाल किया जाता था। बुद्ध के धर्म में, दर्शन में, यह ठीक है कि जड़वाद का समर्थन नहीं किया गया है, लेकिन यह भी निश्चित है कि उसमें सृष्टिकर्ता ईश्वर की कहीं गुंजाइश नहीं है। उन्होंने इस विषय में चुप्पी नहीं साधी, जैसा कि कितने ही लोग कह दिया करते हैं। उन्होंने सृष्टिकर्त्ताका सीधे निषेध किया है। जब हम बुद्ध के दर्शन को लेते हैं, तो उस में ऐसे गम्भीर तत्वोंका प्रतिपादन मिलता है, जो ढाई हजार वर्ष पहिले वाले काल की अपेक्षा आधुनिक वैज्ञानिक युगके अधिक अनुरूप मालूम होता है। इसका यह मतलब नहीं कि आधुनिक वैज्ञानिक तत्वों के उद्घाटन करने का उसम प्रयत्न किया गया। बिना अपवाद के सभी वास्तविक सत्ता रखने वाली वस्तुओं को अनित्य या क्षण क्षण विनाशी कहना एक बहुत ही गम्भीर दर्शन है. जिसे आज के विज्ञान का पूरा समर्थन प्राप्त है। उसी तरह कार्यकारण के सिद्धान्त का किसी अचल कारणके जोड़—घटाव से कार्य-रूपमें परिणत होना न मानकर उसकी जगह प्रतीत्य समुत्पाद को मानना भी बहुत ही गम्भीर सत्य है। अर्थात् कारण कार्य में किसी रूप में नहीं रह जाता, कार्य, कारण या कारणों का ऊपरी परिवर्तन नहीं है, बल्कि आमूल परिवर्तन है। कारण वस्तुतः दूसरी चीज थी और

कार्य बिल्कुल नई चीज है। दोनों में सम्बन्ध इतना ही है, कि कारण के अतीत–नष्ट–लुप्त होने के अनन्तर ही कार्य उत्पन्न हुआ। कारण की सत्ता जिस तरह क्षणिक थी, कार्य की भी वही बात है। और इस प्रकार लुप्त और उत्पन्न होती कार्य-कारण-शृंखला सारे विश्व की चीजों में व्याप्त है। इस नियम का कोई अपवाद नहीं। इसीलिये बुद्ध ने आत्मा के मानने से भी इन्कार कर दिया, क्योंकि तब और अब भी आत्मा ऐसी वस्तु माना जाता है, जो कूटस्थ नित्य, अपरिवर्तनशील हो। बुद्ध का दर्शन इसीलिये अनात्मवाद कहा जाता है। चेतना या विज्ञान को मानने से वह इन्कार नहीं करते थे।। उपनिषद और दूसरे विचारकों के आत्मवाद की जगह पर बुद्ध ने अपने दर्शन का नाम अनात्मवाद रहने दिया।

यहाँ हमें बुद्ध के दर्शन के बारे में कहना नहीं है, बल्कि यह दिखलाना है, कि बुद्ध का दर्शन कितना गम्भीर और वास्तविक है। उनकी धार्मिक उदारता, सहिष्णुता, प्राणिमात्र के प्रति अनुकम्पा और सहानुभूति के बारे में कहने की आवश्यकता ही नहीं। इन बातों में भी वह मानव-जाति के सभी पुरुष-रत्नों में सर्वश्रेष्ठ थे। बुद्ध सचमुच सर्वतोभद्र या समंतभद्र थे, जिधर से भी उनके व्यक्तित्व पर विचार किया जाय उसमें भद्रता ही भद्रता दिखाई पड़ती है। अपने ढाई हजार वर्ष के ऐतिहासिक अस्तित्व में उन्होंने दुनिया के कितने कवियों और कलाकारों को प्रभावित नहीं किया। सिर्फ उन्हीं देशों में नहीं, जहाँ कि बौद्ध धर्म व्यापक रूप में फैला था, बल्कि हम १९वीं शताब्दी के यूरोप के कवियों, कलाकारों और दार्शनिकों को देखते हैं, तो उनमें से चोटी के पुरुषों को बुद्ध को प्रभावित करते देखते हैं। बुद्ध को अनजबी अपरचित लोग भी अपने श्रद्धा के फूल चढ़ाते हैं, फिर हम भारतीय तो उनके हाड़-मांस के सम्बन्धी हैं। कौन अभागा भारतीय होगा, जिसको उस महापुरुष का अभिमान न हो। १९३५ ई० में मैं आज की रक्तरंजित युद्धभूमि कोरिया के पर्वतों-जिनका नाम वज्रपर्वत कहा जाता है—मैं घूम रहा था। यह पर्वत हमारे

सामने हिमाचल के कितने ही सर्वश्रेष्ठ प्राकृतिक सौंदर्य को पेश करते हैं। देवदार वन तो चारों ओर छाया हुआ है, यदि कमी है तो हिमानियों और हिमालय के उत्तुङ्ग शिखरों की। अपने विहारों और मठों के स्थापित करने में प्राकृतिक सौंदर्यपूर्ण स्थान चुनने में बौद्ध साधु सर्वत्र और सर्वदा अद्वितीय रहे हैं। कोरिया के वर्ज-पर्वत में उनके कई विहार हैं, जिनमें से कुछ की स्थापना उस समय हुई थी, जब भारत में समुद्रगुप्त-चंद्रगुप्त का शासन था। यद्यपि उस समय की सारी चीजें इन विहारों में मौजूद नहीं थीं, लेकिन कितने ही कला के सुन्दर प्रतीक अब भी सुरक्षित थे। मालूम नहीं इस युद्धराक्षस ने जो अन्धाधुन्ध गोलाबारी वर्षों से जारी कर रक्खी है, उसके परिणामस्वरूप इन निधियों का क्या हुआ। अस्तु, वहां के एक प्राचीन विहार में जाने पर भिक्षुओं ने मधु के शर्बत से मेरा स्वागत किया। यह कहते हुये, कि हमारे यहां भिक्षु अतिथि का प्रथम सम्मान इसी तरह किया जाता है। उन्होंने एक सिक्ख भाई का हस्ताक्षर किया हुआ दीर्घजीवी कागज भी दिखलाया। बुद्ध की जन्मभूमि भारत के प्रति जो उनका सम्मान है, उसी के लिये किसी भारतीय के हस्तलेख को लेकर सुरक्षित रखना उनके लिये प्रसन्नता की बात थी। सिक्ख सज्जन का हस्ताक्षर उर्दू में था या गुरुमुखी में, यह मुझे याद नहीं, किन्तु वह शिक्षित, संस्कृत नहीं मालूम होते थे, और इसमें संदेह है, कि उन्होंने बुद्ध का नाम छोड़ और कुछ नहीं जाना था। आज भी बुद्ध के पथ का अनुसरण करने वाले या उनका अनुयायी माने जानेवाले लोग दुनिया के कोने-कोने में फैले हुये हैं। और जो भी चीज बुद्ध के जीवन से सजीव सम्बन्ध रखती है, उसके प्रति उनका अपार आदर है। यही तो वजह है, कि जहाँ पर भी बुद्ध के अग्रश्रावकों, प्रमुख शिष्यों, सारिपुत्र और मौद्गल्यायन की पवित्र अस्थियाँ गईं, हाल में वहाँ अपार जनता दर्शनों के लिये उमड़ पड़ी।

लुम्बिनी उसी महापुरुष की जन्मभूमि है। पिछली शताब्दी में कितने

ही पश्चिमी इतिहासवेत्ता सोच रहे थे, कि बुद्ध, जिसका नाम बेकाल से वाली तक और भारत से जापान तक पाया जाता है, वह कोई वास्तविक पुरुष नहीं था, बल्कि सूर्यदेवता की वह केवल काव्यमयी कल्पना है। इन विचारों को बड़ी गम्भीरता से उस समय लिखा-पढ़ा, कहा-सुना जाता था। लेकिन एक के बाद एक पृथ्वी ने खड़े होकर साक्षी देना शुरू किया—सिद्धार्थ गौतम ने बुद्धत्व प्राप्ति के लिये अपने वज्रसंकल्प के साथ जब वज्रासन बाँधा या परम ज्ञान का गम्भीर अनुसंधान-चिन्तन शुरू किया, उस समय भी उसके दाहिने हाथ की अंगुलियां भूमिस्पर्श-मुद्रा में थीं, जो पृथ्वी को अपने वज्रसंकल्प की साक्षी बनाये हुये थीं। वही पृथ्वी प्रमाण देने लगी, कि बुद्ध किसी सूर्य या दूसरे देवता की कल्पना नहीं हैं, बल्कि वह इस पृथ्वी पर ही पैदा हुये थे, और लोगों ने उनको देखा, उनके उपदेशों को कृत-कृत्य होकर सुना था। लुम्बिनी कितनी ही शताब्दियों तक घोर जंगलों से आच्छादित रहकर यद्यपि २०वीं शताब्दी के आरम्भ में आसपास खेतों से और बस्तियों से घिर गया था, लेकिन वैसे वह अभी भी अपरिचित ही स्थान उन लोगों के लिये भी था, जो पीढ़ियों से आसपास के गाँवों में रहा करते थे। वह लुम्बिनी को रुम्मिनदेई कहा करते, जिससे इतना तो मालूम होता है, कि कम से कम नाम में पुरानी परम्परा चली आती थी। शायद मध्यदेश और तराई में बौद्धों के न रह जाने पर भी नेपाल के बौद्ध इन रास्ते के जंगलों को चीर-फाड़कर वहाँ कभी-कभी पहुँचते हों, जिनसे सुनकर लोगों ने रुम्मिन नाम याद रक्खा हो। लेकिन जिस रुम्मिनदेई की पूजा वह लोग करते थे, उसका बुद्ध के जन्मस्थान या धर्म से कोई सम्बन्ध नहीं हो सकता था। १६२० ई० में मैं पहले पहल लुम्बिनी के दर्शन के लिये गया। उससे बहुत पहिले अशोक-स्तम्भ को विद्वानों ने देख लिया था और उस पर उत्कीर्ण लेख ने बतला दिया था, कि अपने अभिषेक के बीसवें वर्ष प्रियदर्शी

राजा अशोक स्वयं यहाँ सम्मान-प्रदर्शन के लिये आया था और उसने लुम्बिनी ग्राम को इस पवित्र स्थान की भेंट के रूप में प्रदान किया था।

परम अहिंसा के अवतार बुद्ध के जन्मस्थान का इस प्रकार निश्चय हो जाने पर भी अभी आसपास के लोग रुम्मिनदेइ के लिये बकरों और मुर्गियों की बलि चढ़ाते थे। १६२० ई० के वसंत का उस समय का दृश्य आज भी मुझे अच्छी तरह याद है। धान की खेती अधिक होने से और उनके कट जाने के कारण चारों ओर समतल पीली सी भूमि दिखाई पड़ती थी। अशोक-स्तम्भ के पास ही एक नातिपुरातन छोटा-सा मंदिर था, जिसके भीतर पत्थर की काफी ऊंची मूर्ति थी। सम्भवतः किसी वक्त मूल मंदिर में आग लग गई, जिसके कारण सामने से पत्थर का बहुत सा भाग निकल गया, और रेखाओं से ही मूर्ति की आकृति का परिचय मिलता था। लोग इसी मूर्ति को रुम्मिनदेई मानते थे। बलि मंदिर के बाहर होती थी, जहां पर एक पुराना पीपल था। पास के छोटे से कुंड या गड्हे में पानी नहीं था। उसकी एक भीत पर जंगली कंटीली झाड़ी प्राचीन जंगल के अवशेष के रूप में अब भी मौजूद थी। वहीं कुछ जंगली बेल भी थे। छोटी सी नदी अब भी पास में बहती था। इतने महान् पुरुष का जन्म लेने का स्थान ऐसी अवस्था में हो, यह किसी भी सहृदय व्यक्ति के लिये दुःखद हो सकता है, और मै तो उस महापुरुष का एक परमभक्त था। देवी के मंदिर में कोई ऐसी चीज नहीं थी, कि जिसे चोर ले जा सके। आसपास के किसी गांव का पुजारी वहां रोज पूजा करके चला जाया करता था। मैंने भी अपनी श्रद्धा के अनुसार उस पुनीत स्थान की पूजा की और पुजारी तथा एक दो और आदमियों को स्थान के बारे में कुछ सुनाया। आज तो लुम्बिनी जिस इलाके में है, वहां के सभी लोग इस परम पवित्र स्थान का परिचय रखते हैं, और बर्मा, भोट या चीन वालों का देवता न कहकर हमारे बुद्ध भगवान् की जन्मभूमि है, यह भी बड़े सम्मान से कहते हैं। मैं नवगढ़ रोड स्टेशन से गया था। लोगों से पूछता-पाछता दोपहर से

पहिले ही भगवानपुर पहुँचा। भगवानपुर में किसी समय नेपाल की कचहरी थी। उस समय कितने ही सरकारी कर्मचारी और कुछ गोरखा सैनिक भी वहां रहते थे, लेकिन बहुत वर्षों पहिले भगवानपुर उस अधिकार से वंचित हो गया था, और वहां से लक्ष्मी रूठ रही थी। पुरानी कचहरी के एक-दो मकान अब भी खड़े थे, नहीं तो वह साधारण किसानों का एक गांव था। वहां एक नेपाली ब्राह्मण और एक वैष्णवी साधुनी मिली। भोजन का समय था, और जब उन्होंने आग्रह किया, तो करतल-भिक्षा तरुतलवास रखने वाला मेरे जैसा आदमी इन्कार कैसे कर सकता था। धूप भी काफी तेज थी। रुम्मिनदेई लुम्बिनी वहां से बहुत दूर नहीं थी, लेकिन लोगों के बतलाने से मालूम हुआ, कि ठंडे में जाना ही अच्छा है। फिर चार बजे के करीब मैं अकेले ही पैर नापता लुम्बिनी पहुँचा और वहां जो दृश्य देखा उसके बारे में अभी बतला चुका हूं।

लुम्बिनी अकेले ही बुद्ध के गौरव स्तम्भ को अपने भीतर नहीं रक्खे हुये है, बल्कि पिछली शताब्दी के मध्य तक घोर जंगलों से ढकी शाक्यों की भूमि में जगह-जगह पर पुराने ध्वंसावशेष मिलते हैं। इसी भूमि में और लुम्बिनी से नातिदूर पिपरहवा में मानव बुद्ध के अस्तित्व का दूसरा बहुत जबर्दस्त प्रमाण वह लेख मिला, जिसके द्वारा मालूम हुआ, कि वहीं स्तूप में भगवान् की पवित्र अस्थियां उनके शाक्यों ने स्थापित कीं। पिपरहवा का यह अभिलेख भारत की सर्व प्राचीन वर्णमाला ब्राह्मीका सर्वपुरातन रूप माना जाता है। पिपरहवा में किसी धनी गृहस्थ के यहां मैं रात को रहा। उन्होंने अपने गांव के बाहर बड़ी ईटों वाले पुराने घरों की नींव दिखलाई। तिलौराकोट अब भी एक पुराने नगर और गढ़ का अवशेष है जो बाणगंगा के किनारे पर पड़ता है। उसे कपिलवस्तु कहा जाता है। हो भी सकता है, लेकिन जब तक धरती स्वयं उठकर साक्षी न दे, तब तक यह निश्चय करना भी मुश्किल है। तिलौरा से अति दूर निगलिहवा है, वहां भी एक खंडित अशोक-स्तम्भ तथा अशोक लिपि मौजूद है।

तथागत की जन्मभूमि, बाल्य और तारुण्य की लीलाभूमि लुम्बिनी यद्यपि आज अंधकार में नहीं है, और उसके प्राचीन इतिहास का कितना ही अंश हमें सस्कृत, पाली, तिब्बती, चनी आदि दुनिया की कितनी ही भाषाओं में मिलता है, लेकिन अभी इस भूमि का बहुत सा इतिहास इस भूमि के गर्भ में छिपा हुआ है। लुम्बिनी अब वह चिर-उपेक्षित स्थान नहीं है। मेरी पहली यात्रा के कितने ही वर्षों बाद लेकिन आज से काफी पहिले आसपास की जगह को सुधारने की कोशिश की गई। देश-विदेश से दर्शन के लिये आने वाले यात्रियों को सबसे बड़ा कष्ट यह था, कि वहां ठहरने का कोई स्थान नहीं था, और न खाने-पीने की कोई चीज मिल सकती थी। पास के गांव के चौधरी साहब कितने ही सालों तक स्वेच्छापूर्वक आये-गये अतिथियों का यात्रियों का आतिथ्य किया करते थे। दूसरी या तीसरी यात्रा की बात है, चौधरी साहब मुझे अपने यहां ले गये। उस समय अभी चाय का बहुत रवाज नहीं हुआ था। चौधरी साहब ने अथितियों के लिये चाय के लिये चीनी के प्याले, तस्तरी आदि रख रक्खी थी। हमारे यहां के बहुत से उस समय के लोगों की तरह चीनी के बर्तनों को मिट्टी का बर्तन समझकर एक बार इस्तेमाल करने के बाद वह भी भ्रष्ट माने हुये थे, इसलिये उन्होंने कुछ संकोच के साथ कहा—'आप तो बौद्ध हैं, आपको तो प्याले में चाय पीने में एतराज नहीं होगा ?' मुझे क्या एतराज होता। यद्यपि लुम्बिनी में अब आये-गयो को ठहरने के लिये स्थान है, किन्तु क्या उतने ही इस लुम्बिनी के ऋण से हम उऋण हो सकते हैं ?

लुम्बिनी मानव जाति के सर्वश्रेष्ठ पुरुष का जन्मस्थान है। उसे उसके अनुरूप ही होना चाहिये। प्रसन्नता की बात है, कि नेपाल सरकार और धर्मोदय सभा का इस ओर ध्यान गया है। नेपाल सरकार का ध्यान न जाता, तो बड़े आश्चर्य की बात होती। यह तो बहती गङ्गा में नहाना है। ऐसे पुनीत और ऐतिहासिक कार्य में भाग लेने का

अनायास मौका मिला है। लुम्बिनी में शालवन था। शालों, शाखुओं को लगाकर लुम्बिनी के शालवन को पुनरुज्जीवित किया जाय, यह अच्छी बात है। लेकिन उससे पहिले यह जरूरी है, कि आस पास की भूमि की पुरातात्विक ढंग से खुदाई की जाय। एक बार वहाँ नेपाल सरकार की ओर से कुछ काम लगा था, कितने ही स्थानों की कुछ खुदाई भी हुई थी, लेकिन वह बिलकुल अनाड़ी ढंग से ही। वहाँ कुषाण समय तक के मूर्तिखण्ड मिले थे, लेकिन कौन कितनी गहराई से निकला, कौन स्थान से निकला इत्यादि का ध्यान न देकर सबको खोद करके एक जगह जमा कर दिया गया। मालूम नहीं उस समय की खुदाई की निकली वस्तुएँ अब कहीं सुरक्षित रक्खी भी गई हैं या नहीं। लुम्बिनी और आस पास की शाक्य भूमि से निकलनेवाली पुरातात्विक सामग्री—मूर्तियों, ईंटों, अभिलेखों, सिक्कों का एक संग्रहालय होना चाहिये, जिसका अल्पारम्भ ही चाहे हो, किन्तु धीरे-धीरे वह बढ़ जायगा, इसमें सन्देह नहीं। अब भी हमारे भिक्षुओं में पाली-संस्कृत का ज्ञान रखनेवाले तथा इस विषय में रुचि रखनेवालों का अभाव नहीं है। लुम्बिनी में एक अच्छा विद्यालय होना चाहिये, जिसमें प्राचीन विद्याओं के अध्ययन का विशेष प्रबन्ध हो। पाली, संस्कृत के साथ धीरे-धीरे तिब्बती और चीनी भाषा तथा साहित्य के पठन-पाठन का भी वहाँ प्रबन्ध किया जाय। यह कहने की आवश्यकता नहीं, कि विद्यालय के साथ एक अच्छी लाइब्रेरी हो। लाइब्रेरी का संग्रह बहुत मुश्किल नहीं होगा। तिब्बती कंजूर और तंजूर के दस हजार के करीब ग्रन्थ तो तिब्बत से दान में मिल सकते हैं। लुम्बिनी के लिये चीनी त्रिपिटक का दान मिलना सिर्फ इच्छा प्रकट करने की चीज है। स्यामी और बर्मी लिपियों में पाली त्रिपिटक और पाली साहित्य भी मिलना आसान है। संक्षेप में संग्रहालय, विद्यालय और पुस्तकालय से लुम्बिनियाँ सुशोभित करना सबसे पहला काम है। इनके तथा भिक्षुओं और कुछ विद्यार्थियों के रहने के लिये

आवश्यक मकानों की जरूरत भी पहिले ही पड़ेगी। मकानों के बनाने का प्लान और योजना बड़ी बनाई जाय इसमें कोई हर्ज नहीं, लेकिन पहिले ही बहुत सा रुपया ईंट-चूने पर नहीं लगा लेना चाहिये। बौद्ध-विहार सारे एशिया में केवल मानसिक रोगों के चिकित्सालय नहीं रहे, बल्कि शारीरिक रोगों की भी वहाँ चिकित्सा होती रही। अबकी इसी कर्त्तव्य के प्रतीकस्वरूप बहुत से विहारों ने अपने यहाँ बुद्ध को भैषज्य-गुरु के नाम से स्थापित किया था। तिब्बत, जापान और इन्दोचीन की कितनी ही प्राचीन भव्य मूर्तियाँ भैषज्यगुरु की मिलती हैं, जिनमें पद्मासनस्थ बुद्ध के एक हाथ में औषध की प्रतीक हरीतकी का फल रहता है। यदि चिकित्सा के साथ आयुर्वेद के अध्ययन और प्रयोग का भी धीरे-धीरे प्रबन्ध किया जाय, तो वह भैषज्यगुरु के जन्म-स्थान के बिल्कुल अनुरूप ही होगा।

लुम्बिनी के नहीं, बल्कि हमारे भाग्य के जागने का अवसर है, जो भारत के नवजागरण के साथ लुम्बिनी ने लोगों का ध्यान अपनी ओर आकृष्ट किया है। लुम्बिनी या शाक्यदेश का इतिहास पश्चिमी नेपाल के पहाड़ी भाग से बहुत घनिष्ठतया सम्बद्ध है। पहिले इस भूमि में सारे हिमालय की तरह किरात के लोग रहा करते थे। किरात बहुत वीर और सम्पन्न जाति थी। कश्मीर के पास से लेकर आसाम तक कभी इसी जाति की प्रधानता थी, लेकिन उसकी सीमा यहीं नहीं खतम होती थी, बल्कि इन्दोनेसिया, कम्बोज, थाई, केरन आदि जातियाँ उसी किरात जाति की शाखाएँ हैं जिनमें लिम्बू, राई, सुवार, नेवार, गुरूङ्ग, मगर आदि सम्मिलित हैं। मगर-गुरूङ्ग-भूमि में अत्याचारों से पीड़ित और अपने गणराज्यों के उच्छिन्न होने के बाद बहुत से शाक्य, कोलीय, कुशीनारा, अनुपीया आदि के गणतन्त्री भागकर शरणार्थी हुए। यह सभी गण नौ मल्लों के अन्तर्गत थे, इसीलिये उन्होंने वहाँ जाकर मल्ल उपाधि प्रचलित की, जो हाल तक नेपाल के बहुत से भागों में सम्मा-

नित उपाधि रही। शाक्यों-मल्लों का प्रथम प्रवास तथा लुम्बिनी के उत्तरवाले पहाड़ों के लोगों की संस्कृति पर प्रकाश डालने के लिये लुम्बिनी का इस सम्बन्ध में कार्य प्रकाशस्तम्भ जैसा होगा।
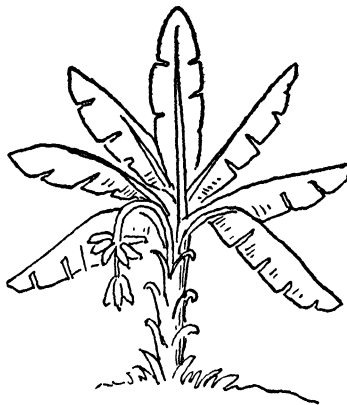
सांस्कृतिक निधियों की इतनी उपेक्षा क्यों ?

दीर्घकाल व्यापी संस्कृति किसी जाति के लिए अभिमान की ही नहीं बल्कि वह जिम्मेवारी की भी चीज है। हमारी संस्कृति दुनिया की तीन-चार अत्यन्त प्राचीन संस्कृतियों में से एक है। जैसे हमारे मानसिक निर्माण में पीढ़ियों से गुजरती हुई हमारी संस्कृति आज भी सजीव रूप में विद्यमान है, उसी तरह वह ठोस और साकार रूप में हमारी धरती के भीतर और ऊपर अपने समकालीन अस्तित्व को छोड़े हुए है। पिछले डेढ़ सौ वर्षों में हमारी संस्कृति के प्राप्य इन साकार अवशेषों के पता लगाने और संरक्षण की बहुत कोशिश की गयी, लेकिन इसमें शक नहीं कि अभी उसका बहुत थोड़ा-सा अंश ही पाया जा सका है। अभी भी हमारी धरती में पुराण-पाषाण और नव पाषाण युग के भारतीय मानव के हाथ की कृतियाँ, उसकी बुद्धि के चमत्कार अत्यन्त अल्प मात्रा में प्रकट हो सके हैं। पश्चिम के उन्नत देशों में जहाँ प्रागैतिहासिक पुरातत्व और उस पर आधारित इतिहास विद्वानों के अध्ययन का एक अलग विषय है, वहाँ हमारे लिये उसको अत्यन्त गौण माना जाता है, इसीलिए पुराण-पाषाण, नवपाषाण या ताम्र-युग की हमारी संस्कृति पर स्वतन्त्र ग्रंथों का अभाव है, अध्यापक और विद्यार्थी दोनों ही उसे चोंच से छूकर छुट्टी ले लेना चाहते हैं। इसे कहने की आवश्यकता नहीं कि धरती के भीतर या ऊपर सुरक्षित इन सांस्कृतिक निधियों अर्थात् पुरातत्व-सामग्री का अधिकाधिक अनुसन्धान और अध्ययन करना जरूरी है। मैं यह नहीं कहता कि पौराणिक कथाएँ और किंवदंतियाँ इतिहास के लिए कोई मूल्य नहीं रखतीं, किन्तु यह जरूर है कि उनका मूल्य बहुत सीमित है और उनके उपयोग में बड़ी सावधानी की आवश्यकता

है, क्योंकि वहाँ सच और झूठ का इतना सम्मिश्रण है, कि बहुत विवेक के साथ ही उनका ठीक से उपयोग इतिहास के निर्माण में हो सकता है। पुरातात्विक निधियाँ अत्यन्त ठोस और निर्भ्रान्त समकालीन अभिलेख (रेकार्ड) हैं, उनका महत्व उसी तरह सबसे अधिक है, जिस तरह यथार्थ ज्ञान की प्राप्ति के लिए प्रत्यक्ष का।

बहादुराबाद के अवशेष

काल में हम जितना ही दूर जाते हैं, उतना ही हमारी सांस्कृतिक निधियों का परिमाण अल्प होता जाता है, यहाँ तक कि ताम्र और पाषाण युग में जाने पर यह सामग्री अत्यन्त विरल हो जाती है—मानव भी उस समय भारत की धरा पर विरल ही था। लेकिन, इस विरल और अत्यन्त दुर्लभ सामग्री का जब आज अपनी आँखों के सामने हम संहार होते देखते हैं, तो मन क्षुब्ध हो जाता है। हरिद्वार से ८ मील पश्चिम बहादुराबाद स्थान में हाल में ही ताम्रयुग के अवशेष मिले थे, जहाँ उत्तर प्रदेश सरकार की एक जल विज्ञान प्रयोगशाला है। एक बिजली-घर भी वहाँ मौजूद है और दूसरा बन रहा है। डाक्टर यज्ञदत्त शर्मा ने यहाँ की ताम्रकालीन सांस्कृतिक निधि के बारे में लिखा है—गंगा नहर की एक नयी उपशाखा खोदते हुए पुरानी बस्ती के कुछ चिह्न दृष्टिगोचर हुए। बिजलीघर के निर्माण के ठेकेदार श्री श्यामकृष्ण अग्रवाल ने उसकी सूचना पुरातत्व-विभाग को पहुँचा दी और कुछ समय पश्चात् हम वहाँ खोदाई के लिए पहुँच गये। हमारे पहुँचने से पहले ही पुरानी बस्ती का अधिकांश खोदा जा चुका था और उसके फलस्वरूप बहुत से पुरातत्वीय प्रमाण सदा के लिए विलीन हो चुके थे। फिर भी नहर के तटों के कुछ भागों को हमने लगभग २५ फुट गहराई तक सविधि खुदवाया और पहले की खुदी हुई सामग्री को एकत्र किया। बिखरे हुए कणों को पुनः संगृहीत कर हमने यह चेष्टा की कि

बहादुराबाद की ताम्रकालीन लुप्त संस्कृति का अधिक से अधिक प्रामाणिक चित्र उपलब्ध हो सके।

प्राप्तिस्थानों की उपेक्षा

डाक्टर यज्ञदत्त ने यहाँ की ग्रीसाम के महत्व के बारे में लिखा है— "तांबे के इस प्रकार के उपकरण पहले भी कई स्थानों से उपलब्ध हो चुके हैं। प्रायः ऐसा हुआ कि उपकरण तो किसी न किसी संग्रहालय में पहुँचा दिये गये, किन्तु प्राप्तिस्थान का किसी ने भी निरीक्षण या अध्ययन नहीं किया। आज उन प्राप्तिस्थानों का हमें पूर्ण ज्ञान भी नहीं, फलतः यह भी मालूम नहीं कि तांबे के उपकरणों के अतिरिक्त और क्या संस्कृतिज्ञापक सामग्री वहाँ विद्यमान थी। बहादुराबाद की खोदाई का विशेष महत्व इसी में है कि अभी तक यह एक ही ऐसा स्थान है जहाँ और पुरातत्व सामग्री का अध्ययन भी सम्भव है। बहादुराबाद की पुरानी बस्ती वर्तमान भूमितल से लगभग २१॥ फुट नीचे दबी हुई है। इस बस्ती के भूमिगत होने के पश्चात् एक पहाड़ी नाला भी पौने १३ फुट गहरा अपनी रेत यहाँ छोड़ गया है।...बहादुराबाद की संस्कृति कम से कम ई० पू० १२०० वर्ष पहले फली-फूली होगी। सम्भावना यही है कि वह इससे भी अधिक पुरातन हो।"

इस तरह मालूम होगा कि २० वीं शताब्दी के उत्तरार्ध में भी हमारी बेपरवाही से सांस्कृतिक निधियाँ किस तरह लुप्त हो रही हैं और किस तरह हम अपनी भावी पीढ़ियों तथा दुनिया के विद्वानों के सामने अपनी इस बेपरवाही के लिए अपराधी हो रहे हैं।

रूस से सबक लें

यह स्मरण रखने की बात है कि आज हमारे देश में कृषि और उद्योग-धन्धे के लिए जो प्रयत्न हो रहा है, उसके कारण इन सांस्कृतिक

निधियों के और भी भारी परिमाण में नष्ट होने का खतरा पैदा हो गया है। यह कोई नहीं कहेगा कि हम अपनी दरिद्रता के दूर करने के उपाय कृषि और उद्योग संबंधी योजनाओं को छोड़ युगों बीती पुरानी ऐतिहासिक निधियों को लिये बैठे रहें। किन्तु दोनों का करना असम्भव नहीं है और ऐसा किया गया है। बहुत देशों में बड़ी बड़ी नहरें निकाली गयीं, समुद्र जैसे जलनिधियों में सिंचाई और पनबिजली के लिए अपार जलराशि जमा की गयी। यह हमारे देश के लिए ही नयी चीज नहीं है। दूसरे देशों के लोगों ने इस बारे में क्या किया, इसका उदाहरण सोवियट मध्यएशिया से लीजिये। लड़ाई के दिनों में आहार की समस्या को हल करने के लिये सोवियट रूस को अपने दूसरे भागों में अधिक अन्न उपजाने के लिए कई भारी-भारी काम करने पड़े थे, जिनमें फरगाना प्रदेश [बाबर की जन्मभूमि] में एक विशाल नहर को निकालना भी था। सोवियट के लोगों को मालूम था कि प्राचीनकाल में चीन का रेशम जिस स्थल-पथ से यूरोप को जाता था, वह इसी इलाके से गुजरता था, इसलिए ईसा की पहली चौदह-पन्द्रह शताब्दियों में यह भूभाग अधिक समृद्ध और जनसंकुल रहा होगा और उस समय की बहुत सी सांस्कृतिक सामग्री यहाँ मिल सकती है। जिस समय रूस जर्मनी से जीवन-मरण की लड़ाई लड़ रहा था और जिस समय अपनी छिनी हुई भूमि की फसल क्षतिपूर्ति वह कुछ हद तक फरगाना की इस नहर को खोदकर उसके द्वारा पूरा करने की कोशिश कर रहा था, उस समय भी वह यह नहीं भूल सका कि वहाँ निकलने वाली सांस्कृतिक निधियों का संरक्षण भी हमारा अत्यन्त आवश्यक कर्तव्य है—वस्तुतः सभ्य और संस्कृत कहलाने का हक उसी जाति को हो सकता है जो अपने संकट के समय में भी अपने सांस्कृतिक कर्तव्य को न भूले। वहाँ सरकार ने चार जातियों के खोदाई करने वाले कर्मकरों के जानने के लिए चार भाषाओं में चार-चार पन्ने की पुस्तिकाएँ छापकर बाँटीं और

निर्देश किया कि यहाँ से प्राप्त होने वाली सामग्री हमारे इतिहास पर नया प्रकाश डालेगी, इसलिये फावड़ा चलाते वक्त इस बात का बड़ी सावधानी से ध्यान रखना चाहिये। इतना ही नहीं, सोवियट सरकार ने दो दर्जन ट्रकें देकर कुछ पुरातत्वज्ञ भी वहीं नियुक्त कर दिये, जो हर एक सामग्री को उसके निकलने के स्थान और गहराई के साथ नोट करके ट्रकों पर लाद-लाद कर एक जगह जमा करते रहे। वहाँ सामग्री इतने परिमाण में निकली कि उससे एक अच्छा खासा म्यूजिम भर गया।

सोवियट मध्य एशिया में जो किया गया उससे हम शिक्षा ले सकते हैं और हर एक नहर या जलनिधि खोदने, बनाने तथा दूसरे बड़े पैमाने की खोदाई आदि करने के समय हमें इन निधियों की रक्षा करने को अपनी जिम्मेदारी को पालन करना चाहिये।

यह ठीक है कि हमारा देश गरीब है और दूसरे अधिक समृद्ध देशों की तरह हम करोड़ों रुपये अपने पुरातत्व विभाग पर नहीं खर्च कर सकते। अराल समुद्र और वुक्षू नदी के किनारे के कराकुम मरुभूमि में किसी समय ख्वारेज्म की उन्नत सभ्यता फैली हुई थी। वहाँ बड़े-बड़े नगर और गाँव बसे हुए थे जो पीछे बालू के नीचे दब गये। आज सोवियत पुरातत्वज्ञ डेढ़-डेढ़, दो-दो सौ आदमियों की पलटन के साथ मोटर-लारियाँ ही नहीं बल्कि हवाई जहाज भी लिये खोदाई कर रहे हैं और वहाँ से अद्भुत सामग्री प्राप्त कर रहे हैं। हमारे लिये अभी यह साध्य बात नहीं है लेकिन दूसरे खर्चों के करने में हमारी प्रादेशिक और केन्द्रीय सरकार क्या देश की गरीबी का खयाल करती है ? क्या करोड़ों रुपया फजूल ही बड़ी बेदर्दी से बरबाद नहीं किया जा रहा है। तब हम सांस्कृतिक कामों के लिये ही क्यों गरीबी का बहाना लेना चाहते हैं ?

उत्तर प्रदेश के अवशेष

हमारा उत्तरप्रदेश ६ करोड़ आबादी का एक महान् प्रदेश है।

भारतीय संस्कृति के हर काल के सबसे समृद्ध अवशेष यहाँ पर मौजूद हैं, इसका प्रमाण हरिद्वार के पास का बहादुराबाद का यह अवशेष भी दे रहा है। ताम्रयुग ही नहीं, उससे पहले की संस्कृति के भी अवशेष हमारे विन्ध्याचल और हिमाचल की नदी, घाटियों और गुफाओं में प्रतीक्षा कर रहे हैं। लेकिन, यदि हम उनके बारे में ऐसी ही बेपरवाही करते रहे तो कैसे हम उनकी रक्षा कर सकेंगे और कैसे इस देश का प्रामाणिक तथा वैज्ञानिक इतिहास लिख सकेंगे ?

उत्तरप्रदेश जैसे भारत के सब से बड़े प्रदेश की सरकार अपने पुरातत्व विभाग पर अब तक ३२ हजार रुपया खर्च कर रही थी। अब सरकार को गरीब जनता के पैसे को बड़ी सावधानी से खर्च करने का ध्यान आया है और वह उस विभाग को तोड़कर ३२ हजार की रकम को किसी बड़े महत्वपूर्ण काम में खर्च करना चाहती है। जहाँ शिक्षा-विभाग पर कई करोड़ रुपये खर्च हो रहे हैं, वहाँ इस ३२ हजार रुपयों के रहने-न-रहने से क्या फर्क होगा, इसका जवाब हमारे शिक्षा-विधाता ही दे सकते हैं। लेकिन हम कहना चाहते हैं कि उनका यह काम आज से दो-चार शताब्दी पहले के लिए क्षम्य भले ही हो सकता था, किन्तु आज नहीं। उत्तरप्रदेश में मिर्जापुर की दुधी तहसील में एक विशाल नहर के लिए काम हो रहा है। दूसरी जगह भी अनेक नहरें और नव-निर्माण के काम चल रहे हैं। जिन जंगलों में ट्रैक्टर चलकर नये खेतों का निर्माण कर रहे हैं, वहाँ भी हमारी कोई प्राचीन सांस्कृतिक निधि प्राप्त हो सकती है। गढ़वाल जैसे पहाड़ी प्रदेश में अभी इसी साल लोग जब पुराने चश्मे को खोदकर उसकी मरम्मत कर रहे थे, उस समय उनको वहाँ एक बड़ी सुन्दर पुरानी पत्थर की मूर्ति मिली। हर जगह इस तरह की सम्भावना है। सवाल यह है कि ३२ हजार की रकम बन्द करके उत्तरप्रदेश की सरकार इन सामग्रियों की रक्षा का प्रयत्न करने वाले विभाग को तोड़कर एक भारी पाप कमाने के लिए क्यों उतारू है ?

चाहिये तो यह था कि इस विभाग को और भी सबल बनाया जाता और प्रदेश में जहाँ भी धरती के भीतर या ऊपर प्राचीन सामग्री मिलने की सम्भावना होती, वहाँ के बारे में जानकारी प्राप्त की जाती। सरकारी और अर्ध सरकारी लोक निर्माण कार्य करने वालों को ही नहीं, बल्कि दूसरों को भी इस बात के बारे में सरल भाषा में छोटी-छोटी पुस्तिकाएँ वितरित करके सजग किया जाता और पुरातत्व मर्मज्ञोंको मैजिक लैंटर्न के साथ सार्वजनिक व्याख्यान देने के लिए प्रेरित किया जाता, जिसमें बहादुराबाद जैसा काम दूसरी जगह न होने पाता।

सरकार को ऐसी उपेक्षा नहीं दिखानी चाहिये, इसके लिए हमें जोर देना चाहिये और आशा रखनी चाहिये कि ऐसा करके वह हमारे प्रदेश को लांछित नहीं करेगी। केन्द्रीय सरकार ने जब देखा कि उसका पुरातत्व विभाग हर जगह पहुँचने और काम करने में असमर्थ है, तो उसने प्रादेशिक सरकारों में भी अपने बोझ को बाँटा। इसके साथ ही हमारे शिक्षित और संस्कृत भाई-बहनों को भी अपना कर्तव्य पालन करना है। इस पुरातन सामग्री को जान-बूझकर नष्ट होने देना वैसे ही है, जैसे कोई ताज या अजन्ता पर तोप लगाकर उसको नष्ट-भ्रष्ट करने की कोशिश करे। जहाँ भी पुरातत्व की कोई सामग्री प्राप्त हो, उसे बहुत सुरक्षित करने का प्रयत्न करना चाहिये और दूसरे भाइयों को भी इसके बारे में बतलाना चाहिये। वह समय भी आयेगा जब कि हमारा प्रत्येक भाषाभाषी जनपद अपने इतिहास के लिए सुन्दर संग्रहालय बनायेगा। भोजपुरीभाषी, अवधीभाषी तथा दूसरे जनपदों में जब अपनी भाषा, अपने साहित्य, अपने इतिहास के लिए जागृति उत्पन्न हो जायगी और लोगों का सांस्कृतिक और आर्थिक तल ऊँचा हो जायगा तो ऐसे संग्रहालयों का होना अनिवार्य है। उस समय तक यदि हमारी उपेक्षासे कितनी ही सांस्कृतिक निधियाँ नष्ट हो गयीं तो उनके रिक्त स्थानों को हम कहाँ से पूरा करेंगे ?

इतिहास का अध्ययन

मनुष्य जिज्ञासा का पुतला है। उसकी जिज्ञासायें अर्थकरी भी होती हैं, अनर्थकरी भी और व्यर्थ की भी। पर यह तो निश्चित ही है, कि पिछले पाँच लाख वर्षों में जो पशु से आज की स्थिति में वह आया है, वह इसी जिज्ञासा की पूर्ति के सत्प्रयत्न के ही कारण। वह अपनी जिज्ञासाओं की पूर्ति के लिये कैसे-कैसे प्रयत्न करता रहा, इसे जानने की कुछ न कुछ जिज्ञासा हरेक प्रकृतस्थ पुरुष में होती है। इस पूर्ति के प्रयत्न में जो कुछ लिखा या कहा गया, या कहा जा रहा, या कहा जायेगा, वही इति-ह-आस (ऐसा ही था) है। इतिहास के अध्ययन से बौद्धिक लाभ होता है और आर्थिक लाभ में बुद्धि एक साधन है। इस प्रकार इतिहास के अध्ययन को केवल स्वान्तःसुखाय या परान्तःसुखाय नहीं कह सकते, पर वह है वस्तुतः सांस्कृतिक भूखआवश्यकताओं में से एक की पूर्ति करनेवाला, बहुत कुछ एक अच्छे मनोविनोद का साधन भी, जो सांस्कृतिक प्रगति के साथ-साथ और वांछनीय होता जायेगा। व्यक्ति और समाज जिन-जिन स्थितियों से गुजरा है, उनके किसी अंश की जानकारी का प्रयत्न भूख और उसका समाधान अपने शैशवकाल से ही मनुष्य को रहा है। उसी की तृप्ति के लिये वीरों की गाथायें बनीं। पहिले इतिहास की कथायें बच्चों की प्रिय कथाओं की तरह ही सुनी और दुहराई जाती रहीं। उनको यथार्थ रखने का प्रयत्न नहीं हुआ, क्योंकि शिशुमानव को रोटी-परिधान-शरण यथार्थ चाहिये था—इनके बारे में वह यथार्थवादी था—पर इससे बाहर के मनोरंजन के साधनों के प्रति यथार्थवादी होने की वह माँग नहीं करता था। कविता में ऐसा दृष्टिकोण मानव में सदा कुछ-न-कुछ रहेगा, पर आज हम देख ही

रहे हैं, लोग यथार्थवादी रचनाओं को जितना पसंद करते हैं, उतना दूसरी को नहीं। इतिहास में तो यथार्थवाद से एक जौ भी इधर-उधर होने को क्षम्य नहीं माना जाता। यद्यपि इसका यह अर्थ नहीं, कि हमारे इतिहासलेखक इस कसौटी पर जरूर ही ठीक उतरने की कोशिश करते हैं। पर, वह जो भी लिखते हैं, उसे यथार्थवाद का चोगा जरूर पहिनाना चाहते हैं।

ऐतिहासिक यथार्थवाद की रक्षा तभी हो सकती है, जब कि इतिहास उस सामग्री पर आधारित हो, जो कि व्यक्ति या वर्णित व्यक्ति या समाज की समसामयिक हो। समसामयिक चीजें अधिकतर भंगुर होती हैं, इसलिये जितने ही अधिक पुराने इतिहास में हम घुसते हैं, उसकी सामग्री कम होती जाती है। चाहे वह सामग्री कितनी ही कम क्यों न हो, पर प्रत्यक्ष-दर्शी होने से सर्वोपरि साक्षी या प्रमाण वही हो सकती है। वही इतिहास की सर्वश्रेष्ठ कसौटी हैं। काल में आज से हम जितना दूर पीछे की ओर जाते हैं। मनुष्य और उसकी बनाई तथा उपयुक्त सामग्री उतनी ही मात्रा में कम होती है। और उसका खोज निकालना और भी कठिन होता जाता है। मैदानी नदियों की उपत्यकाओं में उनकी लाई मिट्टी तथा वर्षा द्वारा फैलाई मिट्टी तह-पर-तह जमती पुराने मानव-अव-शेषों को ढाँकती जाती है। यह तह गंगा की उपत्यका में हमारे उत्तर प्रदेश और बिहार में प्रति शताब्दी आध फुट (छ इंच) के हिसाब से पड़ती गई है। इसका यह अर्थ हुआ, कि यदि हम धरती के उस स्तर को देखना चाहते हैं, जिस पर आज से ढाई हजार वर्ष पहिले बुद्ध बिचरे थे, तो हमें आज के तल से साढ़े बारह फुट नीचे के तल पर पहुँचना पड़ेगा। उस तल पर जो भी मानव निर्मित सामग्री मिलेगी, वह बुद्ध के समसामयिक मानवसमाज द्वारा निर्मित और उपभुक्त होगी, वह उस समय की हरेक बात की प्रत्यक्षदर्शी साक्षी होगी। और ऐसी साक्षी जिसे विकृत नहीं किया जा सकता। जिस

तरह बार-बार नये लेखनसाधनों और लेखकों द्वारा लिखे जाते ग्रंथ मूल से भिन्न होते जाते देखे जाते हैं, उस तरह उत्खनन में प्राप्त सामग्री के साथ नहीं किया जा सकता। जान-बूझकर या संयोग से गड्ढा खोदते समय कोई चीज यदि वहाँ पहुँच जायेगी भी, तो वह किसी विस्तृत तल तक बिखरी नहीं रहेगी, और पारखी आँखें उस अजनवी को पहिचान भी लेंगी। ऐतिहासिक जाल बनाने के लिये कोई भारी धन और श्रम व्यय करके पोरिसोंकर्ज एकड़ जमीन को पोरिसों गहरी खोदकर ऐसी जालसाजी नहीं करेगा। साक्षाद्दर्शी सामग्री के सम्बन्ध में जालसाजी की गई है। कितने ही ताम्रपत्र जाली मिले हैं। इतिहासकार जायसवाल को किसी ने उड़ीसा से सूचित किया था, कि वहाँ अशोककालीन ब्राह्मी में एक तालपोथी मिली है। उन्होंने उसी समय कह दिया, कि यह जाली होगी। बाईस-तेईस शताब्दियाँ पार करना हमारे देश में तालपत्र के लिये संभव नहीं है। अधिक आग्रह करने पर देखा, वही बात निकली। पिछले सौ वर्षों में जब से प्रिन्सेप के प्रयत्न से ब्राह्मी लिपि पढ़ी जाने लगी, तबसे उसके जानकारों और लिखने वालों की कमी नहीं है। किसी ने ब्राह्मी लिपि में तालपोथी लिखकर उससे खूब रुपया पैदा करना चाहा। पर वह उस समय की भाषा कहाँ से लाता, और उससे भी असंभव था, उस समय का तालपत्र और मसी पैदा करना। जाली तालपत्र और मसी का वैज्ञानिक विश्लेषण कलई खोल देता। इसे कहने की आवश्यकता नहीं कि उस तालपोथी की कलई खुल गई। मुगलकालीन चित्रों में ऐसी जालसाजी बहुत प्रचलित है। म्युजियम और देशी विदेशी निजी संग्राहक अच्छे दाम पर ऐसे चित्रों को ले लेते हैं, इसलिये ऐसे चित्रों को बनाने-बेचने का रोजगार चल पड़ा है। कितने ही पुरानी चीजों के व्यापारी पुराने स्थानों से मूर्तियों को पैसे देकर जैसे हो तैसे प्राप्त कर अच्छे दामों पर बेंच देते हैं। जिस तरह बाजार में दवाइयों और खाने की

चीजों तक में जाल-फरेब किया जा रहा है, उसे देखते भला यह पुरानी चीजों के व्यापारी शक्य होने पर क्या जालसाजी से बाज आयेंगे ? ऐसे व्यापारियों से हमारे देश की ऐतिहासिक निधियों को बहुत क्षति हुई है, और अब भी हो रही है। वह उन्हें विदेशियों के हाथ में बेंच देते हैं, जिनमें से कुछ उन्हें अपने संग्रह में रखते हैं और कुछ खूब नफे पर अपने यहाँ के म्युजियम को बेंच देते हैं। एक और अनर्थ यह होता है, कि इन चुराई हुई चीजों के प्राप्य स्थान बहुधा फरजी बतलाये गये रहते हैं, इसलिए स्थानभ्रष्ट होने से वह किसी स्थानीय इतिहास पर प्रकाश डालने में असमर्थ होती हैं।

समकालीन अर्थात् प्रत्यक्षदर्शी सामग्री ही पुरातात्विक सामग्री कही जाती है। हमारा वही इतिहास सच्चा है, जो ऐसी सामग्री को आधार बना कर चलता है। यह सामग्री ऐतिहासिक काल की भी हो सकती है और प्रागैतिहासिक काल की भी। हमारे देश में अभी प्रागैतिहासिक काल पर काम नहीं सा हुआ है। रूस, जर्मनी आदि देशों में ऐसे विद्वान् मिलते हैं, जो अपना सारा समय प्रागैतिहासिक काल के अध्ययन में लगाते हैं। हमारे देश में अभी प्रागैतिहासिक काल के विशेषज्ञ पैदा होने को हैं। इतिहास का काल और सामग्री का इतना विस्तार है, कि कोई उसका सर्वज्ञ नहीं हो सकता। पुरातात्विक सामग्री के आधार के बिना पौराणिक गाथाओं को ले कल्पना के सहारे इतिहास नहीं लिखा जा सकता। हरेक लेखक को यह याद रखना चाहिये कि हमारी कृतियों को सत्यता ही अगली पीढ़ियों तक हमारे प्रयत्न के फल को पहुँचायेगी। यहाँ कोई सिफारिश या तिकड़म नहीं चल पायेगा।

जिस देश का इतिहास जितना पुराना है, उसकी पुरातात्विक सामग्री भी उतनी ही अधिक तथा प्रचुर परिमाण में प्राप्त होनी चाहिये। सिन्धु-उपत्यका की सांस्कृतिक निधियों के उद्घाटन ने हमारे इतिहास को एकाएक ५००० वर्ष पहिले पहुँचा दिया। सामन्तयुगी ही ऐतिहासिक

और प्रागैतिहासिक काल की सीमा हो सकता है, क्योंकि तभी से हम काल को सन् संवत् में साफ तौर से जान सकते हैं। इसी समय से समसामयिक अभिलेख मिलते हैं, जो निश्चित तिथि बतलाने में सहायक होते हैं। धरती के भीतर छिपी सामग्री किसी समय भी प्रकट होकर देश की इतिहास की सीमा को और पीछे ढकेल सकती है। अभी हमारे देश का इतिहास-काल आज से ढाई हजार वर्ष पूर्व बुद्ध के समय जाकर खत्म हो जाता है। मिस्र और मसोपोतामिया का इतिहास उससे दूने काल का है, क्योंकि वहाँ उसके निश्चायक अभिलेख मिले हैं। सिन्धु-उपत्यका की संस्कृतिके अभिलेख मिले हैं, किन्तु अभी वह पढ़े नहीं गये हैं। उसके पढ़ लेने के दावेदारों में से एक उसी लेख को द्रविड भाषा में पढ़ रहा है, और दूसरा संस्कृत में और सो भी उन भाषाओं के नातिप्राचीन रूप में।

हमारे काल और देश में अतिविशाल महादेश के इतिहास पर प्रकाश डालने वाली सामग्री के प्रति विशेषज्ञों ही नहीं साधारण शिक्षित जनता को भी जागरूक रहने की आवश्यकता है, तभी हम अपने इतिहास को अधिक प्रामाणिक रूप में गहरा और विशाल देख सकते हैं। इतिहास का सभी काल रोचक और ज्ञानवर्धक हो सकता है। यह जरूरी नहीं कि हम अति प्राचीन इतिहास को ही सब कुछ समझ लें। बिखरे हुए ठीकरे अलग देखने पर वह अपनी कहानी नहीं बतला सकते, उनके मुँह से पूरी कहानी तभी सुनी जा सकती है जब कि वह जोड़ दिये जायँ। इतिहास के यह ठीकरे बर्तनों के ठीकरे भी हैं। आदमी के हाथ से कटे-गढ़े ईंट-पत्थर तो और भी अधिक महत्व रखते हैं... शिलालेख, ताम्रलेख और सिक्कों के बारे में तो कहना ही क्या?

गाँवों में पुरानी आबादी के अवशेष या डीह ऐसी चीजों की खानें हैं। बरसात में जब उनकी मिट्टी धुल जाती है या कहीं कटाव हो जाता है, उस समय सिक्के और दूसरी चीजें बाहर निकल आती हैं।

पुराने गाँवों में जब किसी नये मकान के लिये नींव खोदी जाती हैं, तब भी कोईमूर्ति निकल आती है। ग्राम-देवताओं के स्थान में अवश्य दो-चार पुरानी टूटी-फूटी मूर्तियाँ रक्खी मिलती हैं। कभी-कभी तो वहाँ दो हजार वर्ष से अधिक पुरानी भी मौर्य और शुङ्गकाल की मूर्तियाँ पड़ी मिलती हैं। यह मूर्तियाँ अरक्षित रहती हैं। न वह घर के अन्दर होती हैं न ताले के अन्दर सुरक्षित। पिछले सौ सालों में ऐसी कितनी ही अरक्षित मूर्तियाँ उठ कर समुद्र पार पहुँच गईं। अब जब कि गाँवों में ग्राम पंचायतें कायम होती जा रही हैं, उन्हें चाहिये कि अपनी सांस्कृतिक निधियों को लुप्त होने न दें। जनपदी मातृभाषाओं की प्रादेशिक इकाई की भावना दिन पर दिन प्रबल होती जा रही है। चाहे दिल्ली के देवता कितना ही शाप देते रहें, अपनी मातृभाषा और मातृ संस्कृति के प्रति लोगों का प्रेम कम नहीं हो सकता। हरेक जनपद की भाषा और उसके लिखित और अलिखित साहित्य की तरह ही सांस्कृतिक-पुरातात्विक सामग्री भी महत्व रखती है इसलिये उसके संग्रह की ओर ध्यान देना चाहिये। मातृ-भाषानुसार यदि ये प्रदेश नहीं तो एक युक्तप्रदेश बना देने चाहियें। उदाहरणार्थ मध्य भारत को मालव-दशार्ण का रूप देकर उसके भाषा-नुसार भू-भाग को उपप्रदेश बना देने पर शिक्षा की तरह संस्कृति के उद्बोधन और उत्थान में बड़ी सहायता हो सकती है। इसके कारण देश के छिन्न-भिन्न होने की बात या तो अनाड़ी करते हैं या न ठौर ठिकाने वाले इन्दो-आंग्लियन लोग। प्रदेशों के कारण भारत की एकता खतरे में नहीं होगी, बल्कि मातृभाषाओं के स्वत्व के न स्वीकार करने पर उसे खतरा हो सकता है। अस्तु, अपने भौतिक आधारों और सामग्री के सहारे इतिहास के अध्ययन की ओर हमारा ध्यान जान चाहिये और सामग्री को रक्षा और संग्रह का काम हरेक शिक्षित और संस्कृत व्यक्ति का कर्तव्य माना जाना चाहिये।

कुरुदेश के ठापे

पर्व-त्योहार, ब्याह-शादी के समय मंगल-चिन्ह दीवार में या भूमि पर अंकित करना बहुत पुराना रेवाज है। भारतवर्ष के किसी भी भाग में चले जायें, हिन्दुओं के घरों में ऐसे चिन्हों को अंकित पायेंगे। अब भी इन चिन्हों में अपने भावों के प्रकट करने की शक्ति है, लेकिन उनकी कला का ह्रास लोगों की कला के प्रति रुचि और अरुचि के अनुसार कम-बेसी रूप में देखने में आती है। धरती पर अंकित किये जाने वाले चित्रों को चौका या रंगोली (रंगवल्ली) कहते हैं, और दीवारों पर अंकित किये चित्रोको थापा या ठापा कहते हैं। हरेक बड़े त्योहार या शादी ब्याह में भिन्न भिन्न प्रकार के थापे अंकित किये जाते हैं। इनमें से कोई केवल लाल या सफेद रंग के बनाये जाते हैं और कुछ में कई और रंगों का मिश्रण होता है। कहीं-कहीं जनपद के अनुसार थापों में भेद देखा जाता है, लेकिन हमारी कई जातियाँ अनेक जनपदों में बिखरी हुई हैं, और उनके थापों में कितनी ही समानता भी होती है। कुछ हिन्दी की कहानियों और गीतों को जमा करते समय मैंने उनसे कुछ थापे भी लिये थे, जो अगरवालों की राजवंशी शाखा के कहे जा सकते हैं। दूसरी शाखाओं से इनमें भेद भी हो सकता है। अघोई कातिक महीने में दीवाली से एक सप्ताह पहले वाली अष्टमी को होता है। उस दिन महिलायें, विशेषकर पुत्रवती मातायें अघोई माता की बड़ी श्रद्धा से पूजा करती हैं। एक विशेष प्रकार का थापा भीत पर बनाया जाता है। पूजा के साथ अघोई माता की कहानी भी कहने-सुनने का माहात्म्य है। कुरु जनपद मेरठ कमिश्नरी के दक्षिण वाले इलाके में यह कहानी निम्न प्रकार कही जाती है—

"देवरानी–जेठानी छः रानियाँ थीं। बच्चे छओं के होते थे, पर छोटी रानी के लड़के बरस भर के होते-होते अघोई-आठें को मर जाते थे। इसी प्रकार सात बच्चे पैदा हुए और मर गये। आठवाँ पैदा हुआ। छठी की रात को बेमाता आई। माँ ने उसके पैर पकड़ लिये। बहुत गिड़-गिड़ा कर उसने बेमाता से आठवें पूत के जीवन की भीख मांगी। बेमाता द्रवित हुई और बोली—"बेटी, यह मेरे वश की बात नहीं है। अब अघोई आठें को स्याउ-माता आवेगी। उसी के हाथ में सब कुछ है। तू आठ नांदों में मिठाई, खीर, फल आदि भरवा रखना। वह एक-एक को बड़े मन से खाकर अघा जायगी। आठवीं नाद के बाद चारपाई बिछाकर बिस्तरा लगा रखना। स्याउ-माता खा-पीकर थक गई रहेगी और चारपाई देखकर वहाँ सो जायगी। फिर धीरे-धीरे उसके पैर ना-ना कहने पर भी दबाते रहना। साथ ही बच्चे को चिउँटी काट-कर जब-तब रुला देना। स्याउ माता के पूछने पर तब तक कुछ न कहना, जब तक वह तिरवाचा न भर दे। स्याउ-माता से तिरबाचा भरवाकर कहना–बच्चा तुम्हारे कान की फुरेरी मांगता है। स्याउ-माता फुरेरी दे देगी। फिर तू एक नहीं, आठ जीते पूतों की मां हो जायगी।

"बेमाता छठी की रात को आकर चली गई। बच्चा बढ़ने लगा। कातिक का महीना, अघोई-आठें का सबेरा आया। पाँचों जेठा-नियों ने कहा—"जल्दी-जल्दी अघोई आठें पूज लें, नहीं तो सदरोई (सदा रोनेवाली) रोने लगेगी। वे जानती थीं कि अघोई माता देवरानी के आठवें बच्चे को उठा ले जायगी और वह फिर रोना-धोना शुरू करेगी। लेकिन उनकी देवरानी ने अबकी बड़ी तैयारी की थी। आठों नादें मधुर भोजनों से भरी थीं। सुन्दर पलंग पर साफ नरम बिछौना बिछाया था। स्याउ माता आई। नाँद में बढ़िया मिठाई देख कर लपक पड़ी। खूब खाया। अगली नाँद में उससे भी अच्छा, तीसरी और आगे की नाँदों में और अधिक स्वादिष्ट भोजन था।

अघोई मानने वाली नहीं थीं, वे खाती ही रहीं। आगे बिछी चारपाई देखकर उस पर पड़ रहीं। रानी ने बैठकर पैर दबाना शुरू किया। अघोई माता चलने को तैयार हुई, तो रानी ने कहा—'ज़रा बालों में तेल डाल दूँ, खुले सिर न जाइये।' रानी ने बालों में तेल डाला। फिर बाल काढ़ने लगी और साथ-साथ बच्चे को चिउंटी भी काटती जा रही थी। बच्चा रोने लगा, तो स्याउ-माता ने रोने का कारण पूछा। रानी ने कहा—'काहे को पूछती हो? जो वह माँगता है, उसे क्या तुम दोगी?' स्याउ-माता ने कहा—'दूँगी।' रानी ने तिरवाचा भरवाकर कहा—'यह तुम्हारे कान की फुरेरी माँगता है।' स्याउ-माता देती नहीं तो क्या करतीं। फुरेरी देते ही पहले के सातों मरे लड़के एक-एक करके धरती पर कूद पड़े। स्याउ-माता ने कहा—'तूने मुझे ठग लिया।'

'रानी के आँगन में आठों लड़के खेलने लगे। उसकी खुशी का क्या कहना। उसने दरजी बुलवाये कपड़े सीने के लिये, गाना-बजाना करने वाले बुलाये नाच-उत्सव मनाने के लिये, हलवाई बुलाकर पापड़ी-पूआ तैयार करवाने लगी। मान, बूआ, ननद आदि को देने के लिये पापड़ी, पूआ, साड़ी, बर्तन, रुपये आदि आठों चीजें तैयार होने लगीं। जेठानियाँ पूजा कर चुकीं, लेकिन सदरोई के रोने की आवाज नहीं सुनाई पड़ी। उन्हें बड़ा अचरज हुआ। उन्होंने यह कह करके बच्चों को भेजा कि देखो तो, चाची रोती नहीं, उसके घर में क्या हो रहा है? बच्चों ने जाकर देखा। वहाँ खूब गाना-बजाना हो रहा था। हलवाई की भट्ठी चल रही थी। आँगन में आठ-आठ बच्चे खेल रहे थे। छोटी रानी ने जेठानियों के बच्चों को भेजकर उनकी माताओं को बुलाया, खिलाया-पिलाया। स्याउ-मैया ने जैसा उसका किया, वैसा सबका करे।"

अघोई की पूजा कुरु से जनपद में भी होती है, जो रामनमाई 'होईमाई' की पूजा बतलाती है। रामनमाई होई की कहानी छोटी-सी है, जैसे—

"होई के दिन नणद-भावज दोन्नों मट्टी लेणे गई, खुदाणे में नणद ने जो खुरपा मारा, तो स्याव के बच्चे निकले सात। नणद ने सातों ई बच्चे मार दिये, पिच्छे से होई लिकली। उनने क्या एक–मेरे सात्तो ई बच्चे तेरे मार दिये, मैं तुझे खाऊँगी। जद भावज ने क्या—इसे तो तू खावे मती, यो तो सात भइयो की एकई भैन्ना है। इसके बदले में जो मेरे बच्चे होंगे उने तू लेती रइये।

"उनने अपणे सातों बच्चे होई कू दे दिये। होइने क्या—'तू बौत इमानदार है। तन्ने अपणी नणद के बदले कोख के बच्चे दे दिये। मैं तुझकू तेरे सत्तों ई बच्चे देती ऊँ।"

भिन्न-भिन्न जातियों और जनपदों के थापों और चौकों की तुलना से हम थापों के ही सम्बन्ध को नहीं, बल्कि उन लोगों के सम्बन्ध को भी कुछ-कुछ जान सकते हैं, जिनके यहाँ यह प्रचलित है। थापों के चिन्ह-संकेत उसी तरह हमें प्रागैतिहासिक काल में ले जाते हैं, जिस तरह गोदने और दूसरे संकेत भी। कोई आश्चर्य नहीं, यदि इनमें से कुछ हमारे पुराने पंचमार्क सिक्खों से होते सिंधु उपत्यका के संकेतों तक पहुँच जायें। यहाँ हमने होई या घोई के माहेश्वरियों, अग्रवालों और राजवंशियों के तीन तरह के थापे दिये हैं। और थापे निम्न प्रकार हैं—

१. नागपंचमी	६. आठैं थापा
२. सावन पूरनमासी	७. देवी का थापा
३. होई	८. नवमी का थापा
४. दीवाली	९. ब्याह का थापा
५. कातिक एकादशी	१०. शादी का चौका

तृतीय-खण्ड
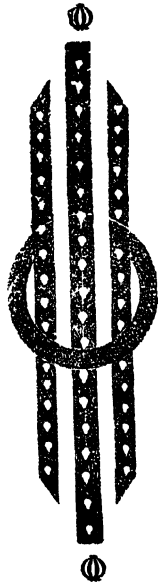
देश-दर्शन

गढ़वाल प्रदेश

'गढ़वाल प्रदेश' इस शब्द को सुनकर हमारे कुछ भाई चिहुँक उठेंगे। भाषानुसार प्रदेशों के आठ विभाजन को ये लोग समझते हैं, कि यह वैसा ही काम है, जैसा भारतवर्ष को हिन्दुस्तान और पाकिस्तान के दो टुकडों मे बॉट देना। यदि उनकी यह धारणा ठीक है, तब तो हमारे विशाल देश में प्रदेशों का होना ही ठीक नहीं। अबुद्धिपूर्वक देश में यदि २८-२९ प्रदेश बना दिये जायँ, तब इन हजरतों को कोई उजुर नहीं, लेकिन भाषानुसार यदि स्वाभाविक प्रदेशों के कायम होने की बात कही जाय, तो देश का खंड-खड हो जाना बतलाया जाता है। यदि जनता के राज्य की बात केवल जबानी न होती, बल्कि उस पर हमारे नेताओं का पूरा विश्वास होता, तो सबसे पहले वह भाषानुसार प्रदेशों को कायम करने के लिए तत्पर होते। यह ख्याल रखना चाहिये, कि भाषानुसार प्रदेश केवल भावुकता की बात नहीं है, बल्कि यह बिलकुल व्यवहार की बात है। क्या यह स्वाभाविकता नहीं है, कि गढ़वाल के दुर्गम पहाड़ों मे सड़कों और यातायात के सुगम साधनों से बहुत दूर बसे गावों के लोग अपनी पंचायतों या पंचायती अदालतों में जब किसी अपनी समस्या या मुकदमे के ऊपर विचार करें, उस वक्त वादी, प्रतिवादी, गवाह और स्वयं पंच तक सारी बात चीत अपनी गढ़वाली भाषा में करें, और फिर उसे जन-साधारण के लिये दुरूह बनाते हुये हिन्दी मे लिखें।

पंचायती शासन में जिस तरह मातृभाषा की अत्यन्त आवश्यकता है, उसी तरह सार्वजनिक शिक्षा के लिये भी मातृ-भाषा का सहयोग अनिवार्यतया आवश्यक है। मातृ-भाषा को शिक्षा का माध्यम मान

लेने पर फिर किसी भाषा और उसके व्याकरण के सीखने के लिये एक मिनट भी देने की आवश्यकता नहीं रह जाती, क्योंकि कोई भी बालक अपनी मातृ-भाषा के बोलने में व्याकरण की गलती कर ही नहीं सकता। वस्तुतः मातृ-भाषा वही है, जिसमें व्याकरण की गलती करना सम्भव नहीं है। यदि हम गढ़वाल के प्रारम्भिक स्कूलों में गढ़वाली को माध्यम बना दें, तो भाषा सीखने के लिये खर्च होने वाला समय भी ज्ञान के लिये इस्तेमाल होगा, और वह बहुत सुगम हो जायगा। हमारी निरक्षरता पूरी तौर से दूर तभी हो सकती है, जब कि मातृ-भाषा को अत्यावश्यक प्रारम्भिक-शिक्षा का माध्यम बना दिया जाय। प्रारम्भिक अर्थात् पांच साल की पढ़ाई को मातृ-भाषा में करके, उसके बाद की शिक्षा आप हिन्दी में दे सकते हैं। लोगों की एक भारी सख्या प्राइमरी की पढ़ाई तक ही रह जाती है, आगे जाने वालों के लिये हिन्दी का माध्यम ज्यादा लाभदायक होगा, क्योंकि इसके लिये सैकड़ों शाखाओं में बटे ज्ञान-विज्ञान के लिये पाठ्य तथा दूसरी पुस्तकें तैयार करना आसान है, और वह धीरे-धीरे होता जा रहा है।

पंचायती शासन और सार्वजनिक-शिक्षा में सहायक के तौर पर ही गढ़वाली भाषा का महत्व नहीं है, बल्कि यह भाषा हिमालय के अनेक खण्डों—नैपाल, कूर्मांचल, कुमाऊँ, केदारखण्ड, गढ़वाल, जलंधर-खण्ड, हिमाचल-प्रदेश और कश्मीर—में से एक अत्यन्त प्राचीन प्रदेश' की संस्कृति का प्रतिनिधित्व करती है। अखण्ड भारत या और किसी नारे से आप एक सांस्कृतिक इकाई को न लुप्त कर सकते हैं, न वह वाञ्छनीय है। भारतीयों की भारतीयता बिलकुल खोखली, जमीन की नहीं बल्कि हवाई चीज होगी, उसकी जड़ अपने प्रदेश में, उसकी भाषा और संस्कृतिमें निहित नहीं है। जिसमें अपने प्रदेशकी प्रदेश के साथ—अर्थात् अपनी भाषा और संस्कृति के साथ—घनिष्ठ सम्बन्ध नही वह भारतीय कैसा? यदि भाषानुसार बंगाल, उड़ीसा, आन्ध्र

और आसाम के प्रदेशों के बनने से भारत की अखण्डता में कोई फर्क नहीं आता, तो जनतांत्रिक भारत में भाषानुसार दूसरे प्रदेशों के बनाये जाने में आपत्ति क्या? हमें आज नहीं तो कल अवश्य अपने हिन्दी-वाले विशाल भूखण्डों को भी भाषानुसार प्रदेशों में बांटना पड़ेगा, यदि सचमुच शासन, शिक्षा, संस्कृति और आर्थिक विकास में जनता को भागीदार बनाना है। मिथिला, तिरहुत, मगध, भोजपुर, अवध, ब्रज, बुन्देलखण्ड, मालव, राजस्थान, कुरु, हरियाना, हिमाचल-प्रदेश, गढ़-वाल, कुमाऊँ आदि के भाषानुसार प्रदेश बन जाने से हमारे राज-काज और ऊँची जगहों पर एक तरह की गहरी आत्मीयता हर बात में प्रकट होगी और भिन्न भाषा के नेताओं के प्रति आज जो सन्देह और वैम-नस्य की भावना देखी जाती है, वह लुप्त हो जायगी। हिन्दीवाले भू-भाग को चाहे तो आप बिहार, उत्तर-प्रदेश, विन्ध्यप्रदेश, मध्य-प्रदेश, मध्य-भारत, राजस्थान, अजमेर, भूपाल, दिल्ली, हिमाचल प्रदेश को तोड़कर केवल एक प्रदेश बना दें, यदि आपका आग्रह है, कि यह सारे लोग हिन्दी भाषा-भाषी हैं, और नहीं तो आज की अबुद्धिपूर्वक बनी इन सारी इकाइयों को हटाकर उनकी जगह भाषानुसार प्रदेश स्थापित करें। यदि हिन्दी के कारण हुई एकता का बहुत आग्रह है, तो पूर्णिमा से जैसलमेर और बदरीनाथ से छत्तीसगढ़ के भूभाग को एक प्रदेश बना दें और इसके भीतर की भाषानुसार इकाइयों को उप-प्रदेश (उप-राज्य) बना डालें। सोवियत रूसमें रूसी फेडरल गणराज्य एक इसी तरह की राजनीतिक इकाई मौजूद ही है।

प्रदेशों के बढ़ने से शासन-व्यय के बढ़ने का बहाना बिल्कुल खोखला है, खास कर उन लोगों की तरफ से जो अजमेर, भूपाल, हिमा-चल-प्रदेश, त्रिपुरा, मनिपुर आदि छोटे-छोटे सूबों को रखने में आपत्ति नहीं करते। फिर अंग्रेजों की देखा-देखी उनके ही जमाने के खर्चीले गवर्नरों की हमें क्या आवश्यकता? हम अपने अपने प्रदेशों

के लिये चुने हुये कम खर्च के महा-पंच रख सकते है। पहले खर्च बढ़ाने का इन्तिजाम पक्का कर लेना फिर उसी को बहाना बनाकर भाषानुसार प्रदेशों को रचना पर आपत्ति करना इसका क्या अर्थ है? अंग्रेजों की खर्चीली शासन-मशीन को हमे अवश्य बदलना पड़ेगा, नहीं तो देश का दिवाला निकले बिना नहीं रहेगा।

हिन्दी क्षेत्र मे भाषानुसार प्रदेशों के बनने से हिन्दी को कोई क्षति नहीं होगी। इन प्रदेशों में जहां-जहां भी जागृति हुई है और लोग अपनी मातृ-भाषा को शिक्षा का माध्यम बनाने की मांग कर रहे हैं, वह अपर-प्राइमरी तक के लिये ही। आगे माध्यमिक और उच्च-शिक्षा हिन्दी मे हो, इसमे किसी को आपत्ति नही है, क्योंकि इसके कारण ज्ञान-विज्ञान के पूरे क्षेत्र मे हमारे लिये सुगमता हो जाती है। हिन्दी का अपना स्थान सुरक्षित रहेगा, इसमें सन्देह नहीं।

भाषायें अपनी संस्कृति का प्रतिनिधित्व करती है, इन संस्कृतियों के संरक्षण और प्रचार के लिये रेडियो, अखबार आदि बड़े सहायक होते है। हरेक प्रदेश के लिये एक-एक रेडियो स्टेशन होना आवश्यक है। हमारे रेडियो के धनी-धोरियों की नीति भी अन्धों जैसी है। अवधी, राजस्थानी और दूसरे कितने ही भाषा क्षेत्रों में दो-दो रेडियो स्टेशन देने के लिये तैयार हैं, लेकिन गढ़वाली की कौन चलावे, ब्रज-भाषा का क्षेत्र भा रेडियो-स्टेशन से वंचित है। फिर वहा लोक-सगीत और लोक-वार्ता के लिये कैसे कोई काम किया जा सकता है।

भाषानुसार प्रदेश का निर्माण जनता की माग पर भी निर्भर करता है, यह आन्ध्र वालों ने दिखला दिया। अंग्रेजों के धर्मपुत्र लाख विरोध करते रहे, लेकिन अन्त में आन्ध्र जनता की मांग को नाक रगड़कर उन्हें मानना पड़ा। गढ़वाली जनता अगर अपनी भाषा के अनुसार प्रदेश की मांग करे, तो कोई रोक नहीं सकता।

पहाड़ी दीवाली

'तीन लोक से मथुरा न्यारी' की कहावत ठीक उतरती है, जब हम दीवाली को किसी जगह कातिक की जगह अगहन की अमावस्या को मनाते देखते हैं। लेकिन टेहरी के लोगों का ऐसा करना एक विशेष कारण से है। आज सैकड़ों वर्ष पहले इन पहाड़ों के सीधे-सादे लोगों को माधव भंडारी नामक एक नेता मिला था। वह यद्यपि राजा का कर्मचारी था, किन्तु साथ ही उसने जनता के स्नेह को भी प्राप्त किया था। दरबार में किसी ने चुगली कर दी और भण्डारी को बुलाने के लिये राजा के आदमी आ गये। उस दिन दीवाली की तैयारी हो रही थी जब कि भंडारी को पकड़ ले गये। लोगों ने दीवाली मनाना छोड़ दिया। माधव के सम्बन्ध में इधर बहुत से जनगीत बने हुये हैं, जिनमें प्रिय नेता के प्रति जनभावना को प्रकट किया गया है। किस तरह राजा के बुलौवे को लोगों ने संदेह की दृष्टि से देखा और निश्चय होते ही उन्होंने गूँधे आटे को वैसे ही छोड़ दिया। लोगों ने दीवाली तभी मनाई, जब अगहन की अमावस्या को उनका प्रिय नेता लौट आया। यह अगहन की दीवाली जौनपुर और टेहरी जिले के कुछ और इलाकों मे मनाई जाती है। हमको जब इसका पता लगा तो २६ नवम्बर १९५१ दीवाली के दिन हम कडी गांव को चल पड़े। मसूरी क्या, सारा देहरादून जिला पहले गढ़वाल राज्य में था। जब गोरखों द्वारा उच्छेदित गढ़वाल राजवंश ने अपनी सेवाओं के लिये फिर राज्य को प्राप्त किया, तो भी अंग्रेजों ने उसके पूर्वी भाग को ब्रिटिश गढ़वाल बनाकर और पश्चिमी भाग देहरादून जिले को भी हर लिया। यह भूभाग टेहरी रियासत के नाम से अभी दो साल पहले तक बना रहा। फिर उसे उत्तर-प्रदेश का एक ज़िला बना दिया गया।

मालूम ही है, कि हाल के निर्वाचन में यहां से उत्तर-प्रदेश की विधान सभा के लिये चुने जानेवाले तीन आदमियों में एक भी कांग्रेस का नहीं चुना गया, तीनों ही स्थान टेहरी राज्यवंश या उसके आदमियों को मिले। पार्लमेंट के लिये भी राजमाता कमलेन्दुमती चुनी गईं। यद्यपि उस स्थान के लिये उनके बड़े कुमार खड़े हुये थे, लेकिन नामजदगी के कागज के रद्द हो जाने पर राजमाता का नाम ही रह गया, और वह बहुत वोटों से चुन ली गईं। यह बात दूसरी है कि राजमाता दिल्ली की पार्लमेंट में जाकर क्या करेंगी। अभी इसी चुनाव के समय वह मुँह खोलकर प्रजा के सामने वोट माँगने आई थीं, और बोलने के लिये दो-चार शब्दों के सिवा उनके पास कुछ नहीं था। लेकिन सभी सीटों पर कांग्रेस को हराकर टेहरी की जनता ने कांग्रेस के प्रति अपना रोष प्रकट किया, इसमें सन्देह नहीं। वस्तुतः कांग्रेसी सरकार ने उनके लिये उतना भी तो नहीं किया, जितना ब्रिटिश ने गढ़वाल के लिये, फिर वह उसकी किस करनी पर वोट देते।

मसूरी वस्तुतः पुनः स्थापित टेहरी राज्य का ही अंग था, जिसे गर्मियों के लिये अच्छा स्थान समझकर अंग्रेजों ने ले लिया और वहां डेढ़ सौ वर्ष से जंगल में मंगल होते हुये एक विलासपुरी कायम हो गई। मसूरी शहर में देखने से यह नहीं पता लगता कि यह किसी दूसरे भूखंड का अंग है। आस-पास के लोग अपने दूध और साग-सब्जी बेचने के अतिरिक्त मसूरी से कोई सम्बन्ध नहीं रखते। नौकर-चाकर भी यहां दूर-दूर से आते है और माल ढोनेवालों में तो सबसे अधिक संख्या पश्चिमी नेपाल के लोगों की है। बहुत कम को यह पता है कि मसूरी के पास जो जौनपुर का इलाका है, वहा अब भी पांडव-विवाह का रवाज है। मसूरी नगर के बहुत नजदीक के गाववाले भी बहुत थोड़ा ही अभी होशियार हो पाये हैं, अभी भी बहुत बातों में वह पिछड़े हुये प्राचीन पंथी हैं।

जौनपुर के लोगों की इस दीवाली को देखने के लिये हम नजदीक

के गांव कंडी के लिये रवाना हुए। गढ़वाल की और जगहों की तरह जौनपुर और जौनसार के भी पहाड़ जंगल काटकर नंगे कर दिये गये हैं, लेकिन मसूरी के पहाड़ जंगलों से नहीं वंचित हुये, इसीलिये हमें हैपीवैली से कंडी गांव की सीमा तक जगलों से होकर जाने में बड़ा आनन्द आया। रास्ता उतराई का था। पहले हम अपने दूधवाले हरि के घर पहुँचे। कुछ लोगों ने अब गाव से अलग अपने खेतों में घर बना लिया है, हरि का घर भी वैसा ही है और वह गांव से आधा मील अलग बसा है। दीवाली का पहला रूप यहीं देखने में आया, जब कि हरि को चादर ओढ़े बाहर धूप मे पड़ा देखा। दीवाली मे शराब की बहार होती है। हरि ने भी आज सबेरे ही से पीना शुरू कर दिया था। खैरियत यह हुई कि उनका छोटा भाई और परिवार अभी होश-हवास में था। जब घर में शराब बनाने की छूट हो और दीवाली महारानी पधारें, तो कौन अभागा होगा, जो पीने से वंचित रहे। हां, हरि ने विशेषता यह जरूर की थी कि वह सबेरे ही काम मे लग गये थे। यद्यपि चलने-फिरने में उनके पैर पूरी तरह सहायता नहीं कर रहे थे, लेकिन ऐसी बात नहीं थी कि वह ठीक से बात न कर सकें। पास मे ढोल भी रक्खा था। हरि ने हमारे लिये चाय बनाने का हुकुम देकर गाना भी सुनाया। गांव से बाहर रहने में यह तो जरूर था कि अकेला घर नाच, गान या पान का उतना आनन्द नहीं ले सकता था। लेकिन दोपहर बाद सब लोग कंडी मे जानेवाले थे।

हरि के घर से हम उतरते हुए उस खड्ड पर गये, जिसका पानी आगे जाकर कैम्पटी के जलप्रपात के रूप में परिणत हो जाता है, और जिसे मसूरी के यात्री अक्सर देखने जाते तथा लौटते वक्त चढ़ाई की मार खाकर गालियां भी दिये बिना नहीं रहते। खड्ड से थोड़ा ही चढ़ कर कंडी गांव आ जाता है।

कंडी में कोई साठ घर होंगे, जिनमें ब्राह्मण, राजपूत और शिल्पकार (अछूत) करीब-करीब बराबर संख्या में हैं। ब्राह्मणों और राजपूतों के

चेहरों पर खस-मुखमुद्रा की छाप स्पष्ट दिखाई देती थी—लम्बी नुकीली नाक, गोरा रंग। यद्यपि यहां के ब्राह्मण-राजपूत प्राचीन खस जाति से ही सम्बन्ध रखते हैं, लेकिन पहाड की और जगहों की तरह कोई खस कहा जाना पसन्द नहीं करता। जहां उन्हें नीचे से आये राजपूतों और ब्राह्मणों के घनिष्ठ सम्बन्ध में आने का अवसर मिला, वहां उन्होंने अपने बहुत से पुराने रीति-रवाजों को छोड़ दिया है, जिसमें व्यायाम और मनोरंजन का सबसे अच्छा साधन नृत्य भी है। कंडी के सभी नर-नारी नृत्य को त्याज्य नहीं समझते, और न मदिरा को धर्मबहिष्कृत मानते। आज तो गांव में गुजरते समय वेद की ऋचा याद आ रही थी। "मधुवाता ऋतायते, मधु त्तरन्ति, सिंधवः"। नदियां तो शायद मधु (मदिरा) नहीं बहा रही थीं, लेकिन कंडी की गलियों में मधुवात जरूर फैले हुये थे। इस मंहगी के जमाने में, जब कि किसी गृहस्थ के घर में दो अतिथियों का आ जाना भारी जंजाल की बात है, वहां का हरएक घर मुक्तद्वार था, आगन्तुक के लिये पानचपक तैयार थे। पुरुषों में बहुत कम की आंखें थीं, जिन पर लाली ने असर न किया हो। दो-एक हमारे भी परिचित थे, उन्होंने बहुत आग्रह किया, लेकिन मैं तो इस जन्म के लिये मदिरा से वञ्चित हो चुका हूँ और अगले जन्म पर विश्वास नहीं रखता। मदिरा के अतिरिक्त ताजा चूड़ा भी आज की एक विशेष चीज है। और पूडी-पकवान के बारे में कहना ही क्या। कंडी गांव आस-पास के खेतों से जरा-सा उभडी हुई एक छोटी-सी टेकरी के ऊपर बसा है। जैसे दूसरे पहाड़ी घर होते हैं वैसे ही इन घरों में भी भूमि और अवकाश का काफी मितव्ययिता के साथ खर्च किया गया है। राजपूतों ने हमें वह घर भी दिखलाया, जो गांव का सबसे पुराना घर है, और जिसके ही निकले हुये आज एक दर्जन से ऊपर घर हैं। पाण्डव-विवाह में घर बढ़ना तो नहीं चाहिये, क्योंकि वहां तो हर पीढ़ी की एक ही पत्नी होती है, और खेती-बारी तथा घर-द्वार के बँटने की नौबत नहीं आती। लेकिन कंडी, जौनपुर या जौनसार तो

पाण्डव-विवाह के छोटे-छोटे द्वीप हैं, जिनके चारों ओर पृथङ-विवाह का महासमुद्र फैला हुआ है। किसी से उसके बारे में पूछने पर भी या तो वह इन्कार कर देता है, या हरि की तरह कहता है—'झूठ क्यों कहें, हमारे यहा सब भाइयों का साझे मे विवाह का रवाज है।'

हम लोग गांव से बाहर के खेतों में गये, जहां होली जलनेवाली थी। होला-दीवाली का यह समागम भी एक विचित्र-सी बात है। लेकिन कडीवाले अपने खेतों को काट चुके थे, बोये जानेवाले खेतों को बो भी चुके थे, अब उनको और जौनपुरियों या जौनसारियों की तरह खेती-बारी के काम से फुरसत थी। ऐसे समय अगर एक छोड़ दो त्योहार आ जायँ, तो क्या हरज है। उत्सव-प्रिय तो यह लोग होते ही हैं। गॉव से बाहर कुछ घास-फूस जमा करके एक होली-सी खड़ी थी जहां कुछ पुरुष और अधिकतर लड़के जमा थे। हमारे सामने ही होली में आग लगाई गई, फिर पुरुषों ने वहीं खेत में नाचना शुरू किया। ढोलकिया ढोल बजा रहा था। इसे कहने की आवश्यकता नहीं, कि बिना पान के नाच में उतरना कोई नहीं पसन्द करता। लेकिन अभी यह गाव का सामूहिक नाच नहीं था। वहां से हम फिर नाचनेवालों के साथ गांव की तरफ लौटे।

नाच के अतिरिक्त इस सम्मिलित होली-दीवाली पर्व का एक विशेष खेल है रस्सा खींचना। रस्सा-कशी में एक ओर पुरुष होते हैं और दूसरी तरफ स्त्रियां। मैं तो समझता था, कि स्वभावतः ही दुर्बल स्त्रियां सदा हारती होंगी, लेकिन लोगों ने बतलाया, कि इधर दो सालों से ही पुरुष विजयी होते आये हैं, उससे पहले स्त्रियां ही विजयी हुई। अपने पक्ष को मजबूत करने के लिये स्त्रियों को अधिकार है, कि बेटियों के अतिरिक्त अपने दामादों को भी शामिल कर लें। पहाड़ी स्त्रियां चाहे अपेक्षाकृत शरीर से दुर्बल हों, लेकिन वह पुरुषों से भी अधिक काम करती हैं। बीच गांव में तिनकों का रस्सा बटा जा रहा था। तिनके को तोड़ कर देखा, वह काफी मजबूत था, फिर उससे नौ तनियों का खूब मोटा रस्सा

बँटा जा रहा था, उससे तो हाथी को भी बांधा जा सकता था। पास मे नाच भी चल रहा था, लेकिन अभी पुरुषों का ही। हमारे पड़ोसी चौकीदार नन्दू भी होली मे शामिल होने आये थे और चार घंटा दिन रहते ही उन पर पूरा रंग चढ़ आया था। लेकिन हम नहीं समझते थे, कि वह इतना गुणी है। नन्दू ने अपने ढोल के हाथ दिखाये, तो सारे नाचनेवाले मुग्ध हो गये। लोग बुला-बुला कर पानचषक उसके हाथ मे थमा रहे थे। बाजा बजाना तो सबके बस की बात नहीं है, किन्तु नाच तो यहां का उतना मुश्किल नही है। अफसोस हो रहा था, कि हमे नाचने नही आता। रस्से को काफी लम्बा होना ही चाहिये, जब कि सैकड़ों आदमी उसमें लगने वाले थे। यह रस्सा-कशी दो दिन होने-वाली थी। रात को होने से हम उसे नहीं देख सके।

सवा तीन बजते-बजते देखा गांव के बाहर स्त्रियों ने अपना अखाड़ा जमा लिया है। पहले लड़कियां आईं, फिर तरुणियां, बाद में प्रौढायें शामिल हुईं और अन्त में जब एक बुढ़िया पंक्ति में घुस कर पड़ोसिनों का हाथ पकड़ने लगी, तो कुछ लड़कियां हँस पड़ीं। लेकिन होली-दीवाली का बुढ़ापे से क्या सम्बन्ध? तब तक पुरुषों का भी काम खतम हो गया और वह भी नृत्यमंडलिका में शामिल हो गये। अब नर-नारियों का सम्मिलित नाच था, यद्यपि दोनों की पंक्ति एक दूसरे से अलग रहते चक्कर काट रही थी। स्त्रियों के गाने का स्वर दूर-दूर तक पहाड़ में गूँज रहा था। उनके गीतों में हमें केवल 'माधव भण्डारी' का शब्द समझ में आता था। पहाड़ी स्त्रियों का कंठ सुरीला और मधुर होता है, यह तो 'किन्नर कंठ' शब्द से ही इतिहास प्रसिद्ध है। आस-पास के पहाड़ों ने सूरज की किरणों को रोक कर पहले ही से अपनी काली छाया फैला दी थी, और अब तो अँधेरा भी जल्दी-जल्दी आ रहा था, लेकिन असली नाच सूर्यास्त के बाद जमने वाला था। माधव भण्डारी के अतिरिक्त नागदेवता के भी गीत गाये जाते थे। नागदेवता का जल से विशेष संबंध

है। पहाड़ों में नाग देवता का प्रभुत्व ज्यादा है, क्योंकि किसी जगह नया चश्मा पैदा कर देना या पुराने को लुप्त कर देना नाग-देवता के बायें हाथ का खेल है। कंडी गांव में भी नाग देवता की मढ़ी है। और हरि तो बहुत कृतज्ञ थे, क्योंकि कुछ साल पहले जो भूकम्प आया था, उसके कारण उनके घर के पास ही एक नया चश्मा निकल आया, और अब पानी लेने के लिये उन्हें दूर नहीं जाना पड़ता था।

कंडी गांव की होली-दीवाली और वहां के नर-नारियों, बाल-वृद्धों के स्वच्छन्द नृत्यगान को देखकर मुझे शताब्दियों पहले बीते उस समय की याद आने लगी, जबकि भारत के मैदानों के नर-नारी इसी तरह स्वच्छन्द महोत्सव मनाते थे। वैदिक काल में तो सोम और मधु की नालियाँ बहती थीं। ऋषि-ऋषिकायें, उनके कुमार-कुमारियों तथा साधारण जन इसी तरह आरक्तनयन हो मुक्त जीवन का आनन्द लेते थे। पहाड़ों में अभी हाल तक सर्वत्र इस तरह के उत्सव देखे जाते थे, जो कम होते-होते अब जौनपुर, जौनसार, रवाईं जैसे कुछ इलाकों में ऊँची जाति वालों के भीतर रह गये हैं। लेकिन जहां यह उत्सव अब भी मनाये जाते हैं, वहां भी अब लोगों का दिल उतना खुला नहीं है। शराब की कुछ कटोरियां वर्तमान परिस्थिति को भुलाने में सहायता जरूर करती हैं, लेकिन तब भी हर एक चीज मँहगी जो है। उत्सव के लिये नया कपड़ा जुटाना बहुतों के लिये मुश्किल है। पूड़ी-पकवान बनाने में भी उतनी उदारता नहीं दिखलाई जा सकती, कि एक दिन पकायें चार दिन खायें, या राह चलते को भी बुला कर बैठा लें। शराब घर में बनती है, लेकिन उसका उपकरण—अनाज, गुड़ भी तो महँगा है। उत्सव के आनन्द के भीतर भी एक तरह की चिंता की झलक दिखलाई पड़ती है। लेकिन चिंता का भुलाना भी तो उत्सव का एक काम है। आज ऐसे उत्सव न होते, तो सचमुच ही कंडी के लोगों के जीवन में बहुत नीरसता होती।

प्रथम हिमपात

आज ही जानकी भाभी के पत्र में पढ़ा—"कम्बख्त सर्दी की वजह से मेरे तो हाथ पैर ही नीले पड़ गये हैं। यहां मेरा यह हाल है, तो न जाने आप लोगों का वहां क्या हाल होगा।" अमृतसर की यह सर्दी निश्चय बेगार की है, किंतु मसूरी को सर्दी नगद नफे की है। हिमाचल की विलासपुरियों का ग्रीष्म में आनन्द लेकर जो तृप्त हो जाते हैं, उन्हें इस परमानन्द का क्या पता ? इस समय बर्फ पड़ रहा है, सर्दी भी तेज है, ढंके बरांडे के भीतर तापमान का ३३ डिग्री होना बहुत नहीं है—तिब्बत और रूस की सर्दी के समान इसे लड़कों का खिलवाड़ समझना चाहिए। हिमपात का देवसुलभ दृश्य ! रूई के फायों की तरह आकाश से वायु के माध्यम पर तैरते नीचे की ओर हिम का उतरना, किसी महान कवि की सुन्दर कल्पना का ही विषय हो सकता है। आंखों के सामने ही कल तक मिट्टी, पत्थरों की रंग-बिरंगी भूमि शंख-श्वेत चादर से ढकी जा रही है। कल-परसों तेज हवा चल रही थी, उस समय आज से अधिक सर्दी थी ! वायु के थपेड़ों से निष्पत्र होने से कंप रहे वृक्ष झूमत हुए 'त्राहि मां' कर रहे थे, मनुष्यों की स्वेच्छापूर्वक घर से निकलने की हिम्मत कैसे हो सकती है ? लेकिन पवन देवता की यह सारी धूम मानो हिम को अगवानी के लिये थी। रात भर वर्षा होती रही, जान पडता था कि जुलाई लौट आई है, किंतु सबेरा होते ही बूँदों का स्थान बर्फ के तूलों ने लिया, धीरे धीरे फाये घने होते गये, दिल कहता है, चलो उनके नीचे खड़े हों, आकाश से मंगल लाजा (खीलों) की वर्षा हो रही है, कितनी शुभ्र, कितनी अम्लान। भीजने का भी भय नहीं। बिन्दु वर्षा भर को देखे हुए हिम वर्षा के आनन्द को नहीं समझ सकते। जाड़े से डरना ! जो गुड़ खाना

चाहता है, उसे कान खिंधाना ही पड़ता है। लेकिन, मुफ्त का जाड़ा पाला सहना भी किस काम का ?

कल हमारी क्यारी में दो बार के बकरियों के प्रहार के बाद भी अपने हरे पत्तों से धरती से चिपके दिखाई पड़ रहे थे, और आज वह सफेद चादर तानकर सो गये हैं, कल तक प्रहार जर्जरित टोमेटो की पीली शाखाएं विपम भूमि को और भी विषम बना रही थीं, कि बर्फ ने जो समता का साम्राज्य फैलाने का उपक्रम किया, उसमें उनका पता नहीं। वृक्षों के ढंकने भर की बर्फ तो कहीं नहीं पड़ती, वह तो हिमयुग की बात है, जो खंड प्रलय का ही दूसरा नाम है। वैसा हो तो दिल्ली और बनारस भी बर्फ की मोटी तह के नीचे होंगे, सारी खड़ी हरी फसल बर्बाद हो जायगी। जनसंख्या की समस्या भी हल हो जायगी, क्योंकि अनभ्यस्त भारतीय न प्राण रक्षा के लिये कपड़ों की जल्दी में तैयारी कर सकेंगे, न तबाह फसल की क्षतिपूर्ति किसी तरह हो सकेगी। वृक्षों की जड़ मे ही कहीं कहीं बर्फ दिखाई पड़ रहा है, हां उनकी शाखाओं पर विशेष कर देवदारों के स्कंधों पर बर्फ के चकत्ते दिखाई पड़ते हैं, जिन से उनकी सौंदर्य वृद्धि अवश्य हुई है। फाटक के सामने के दोनों बौने धूप वृक्षों—देवदार-जातीय होने से सदा हरित—से तो वनदेवी ने मानो हिम का फाग खेला है। वंज (वज्र काष्ठ, ओक) भी हिम पुष्पों से वंचित नहीं है, रंग-विरंगी टिन की छतें सर्वश्वेत हो गयी हैं। चारों ओर फैली हिम श्वेतिमा बीच बीच में चितकबरी होते भी कितनी आकर्षक है।

और हिमपात के साथ यह नीरवता! वह भयानक नहीं मोहक है, कहीं कोई शब्द सुनाई नहीं देता। कीट पतंग बर्फ में दब गए होंगे, किंतु कल तक फुदकती चिड़ियां कहां गयीं ? न शब्द न गति ! क्षण भर के लिये हम हिम युग में पहुँच गये। हिम के आते ही पवन देवता ने यहां अपनी आवश्यकता नहीं समझी। घर में, घर से बाहर भी निःशब्दता का राज्य है, यदि घर मे कोई शब्द सुनाई देता है, तो कागज पर चलती इस

लेखनी को अथवा श्वास प्रश्वास को मन की एकाग्रता के लिये इस समय किसी योगिराज या योगाभ्यास की आवश्यकता नहीं, मस्तिष्क मानो सद्यःपतित हिम जैसा निर्मल हो गया है। किंतु यह स्वरस योग न सिद्ध होता यदि शरीर पर शीत की शक्ति को कुंठित करने वाला गर्म परिधान न होता, भोजन और गर्म चाय ने पेट को शीत सहन न बना दिया होता। किंतु यह बड़े दिन का प्रथम हिमपात उन अभागों के लिये क्या आनन्द लायेगा, जिन के शरीर चीथड़ों से भी मुश्किल से ढंके हैं, जिन के पेट खाली हैं। उन्हे तो हिम वर्षा के मारे आज की मजूरी से वंचित होना पड़ा, वह काम पर आ नहीं सके, बर्फ ने उनकी रोटा छीन ली। हमारी विषमता की दुनिया मे जिस कारण से एक घर मे शादियाने बजते हैं, उसी कारण से अनेकों घरों में मातम होते हैं। हिमपात के आनन्द से वंचित नीचे देश, देश में यदि बहुत हैं, तो यहां उसकी मार से पामालों की संख्या अधिक है। प्रथम हिमपात महोत्सव मनाना अनेकों के भाग्य में नहीं है, इसके लिये तो विषमता का अन्त होना चाहिए। और दिनों आसपास के पहाडी गांवों में ढोल की आवाज आती सुनाई देती थी—खेतीवारी का काम नही, ऊपर से सर्दी हटाने की सस्ती दवा समझ कर नर-नारी गीत नृत्य में तल्लीने होते थे, दो दिन पहिले हमारे नातिदूर किसी ने रात के बाजे बजाते भूतों के जलूस को देख लिया था, लेकिन आज चारों ओर निःशब्दता। ग्रामीण जन घरों में घुसे आग के किनारे सिकुड़ कर बैठे-पड़े होंगे, और वहां मेघ में अदृश्य इन हिमशिखर पंक्तियों के पीछे सहस्राब्दियों से चला आता विषमता का साम्राज्य मिट रहा है। वहां जनगण प्रथम हिमपात को समान भाव से मनाएंगे।

मसूरी

हिमालय में बहुत सी ग्रीष्मपुरियां हैं—पूर्व से चलने पर कलिम्पोंग, दोर्जेलिंग (दार्जिलिंग), रानीखेत, अलमोड़ा, नैनीताल, लैन्सडौन, पौडी, मसूरी, शिमला, डलहौसी, धर्मशाला, सोलन, श्रीनगर (काश्मीर)। साधारण तौर पर सोचने पर कहा जा सकता है कि इन हिमाचल की पुरियों में एक मसूरी भी है, किंतु यात्रा की सुविधा, सौंदर्य और स्वास्थ्य, तीनों की दृष्टियों से देखने पर मसूरी बढ़ जाती है। राजधानी दिल्ली से नजदीक कोई ऐसी पर्वतपुरी नहीं है, जहां चार घंटे में मोटर से पहुंचकर हिमाचलीय वायुमण्डल में पहुंचा जा सके, जहां से देहरादून जैसा बड़ी लाइन का रेल स्टेशन है, जिससे कि एक गाड़ी में बैठकर सीधे कलकत्ता, लखनऊ, प्रयाग, दिल्ली और अमृतसर आज भी पहुंचा जा सकता है और जरा सी दूरदर्शिता दिखलाने पर बम्बई, पूना, नागपुर, मद्रास की ट्रेन या डब्बे जोड़े जा सकते है। सौंदर्य में, विशेषकर सामने हिमाच्छादित शिखर श्रेणियों के सुन्दर दर्शन के लिये, हम मानते हैं, मसूरी का मुकाबला दोर्जेलिंग, अलमोड़ा आदि भी कर सकते, किंतु अपने निरभ्र आकाश के दिनों में शायद मसूरी आगे बढ़ जाये। इसके पीछे वाली भूमि अधिक हरी भरी तथा सुहावनी है। अपेक्षाकृत कम वर्षा के कारण मसूरी अधिक स्वास्थ्यप्रद है, इसे कहने की आवश्यकता नहीं। दिल्ली से सब से जल्दी और आराम से जिस पर्वतपुरी पर पहुंचा जा सकता है, वह मसूरी ही है। इसलिये यदि दिल्लीवासी तथा राजधानी-प्रवासी अधिक से अधिक मसूरी जायें, तो एक समय उसे ग्रीष्म राजधानी बनने का सौभाग्य भी प्राप्त हो सकता है।

मसूरी १८१५ में पराजय के बाद नेपाल से होनेवाली सन्धि द्वारा अंग्रेजों को मिली। शरद मुल्क के निवासियों का यहां के ठंडे जलवायु, यहां की बैंज (ओक), देवदार आदि की मोहक वन्यश्री की ओर ध्यान जाना जरूरी था। अंग्रेज सैलानी तभी से वहां पहुँचने लगे। कुछ झोंपड़े भी खड़े हुए, जो लकड़ी के थे। १८२२ में 'केमल्स बैक' (ऊँटपीठ) डांडे की ढलान पर कच्चे-पक्के घर बने। सबसे पहिले मसूरी में अच्छा निवास गृह मलिगर १८२६ में बना, अर्थात् आज से सवा सौ वर्ष पूर्व। इस बीच कई भूकम्प आये, दोर्जेलिंग तथा दूसरी पर्वतपुरियों में कितनी ही बार खंड-प्रलय हो गया, किन्तु 'मलिगर' अब भी खड़ा है। भूकम्प रोधक होने के कारण सौ वर्ष के तरुण बंगले और कोठियां अब भी यहां सैकड़ों हैं। १८२७ में लढौर बाजार और अस्पताल बनने लगा। १८२६ में व्यापारी लारेंस ने वर्तमान 'महा-डाकघर' जगह में पहिली अंग्रेज दुकान खोली। १८३४ में पहिला अंग्रेजी स्कूल मेकिनन् ने खोला। १८३६ में पहिला गिर्जा (क्राइस्ट चर्च) बना। १८४१ में पहिला क्लब (हिमालय क्लब) आरम्भ हुआ। १८ अप्रैल १८४४ को 'केवल योरूपियनों के लिये' स्टेशन लाइब्रेरी खुली।

अंग्रेज और मसूरी

उन्नीसवीं सदी के मध्य से और आगे तक हिमालय की आबोहवा देखकर यहां अंग्रेजों का उपनिवेश बसाने का इरादा था। इसीलिये तांबा आदि धातुओं तथा चाय के बगीचों को अंग्रेजों द्वारा संचालित कराने की कोशिश की गयी, किन्तु पिछली शताब्दी में ही पता लग गया, कि हिमालय-निवासी यहां से हटाये या मिटाये नहीं जा सकते। मसूरी के अधिकांश सुन्दर मकान उसी काल के हैं, जब कि उपनिवेश बनाने का नशा जोरों पर था। उस समय मकानों को मजबूत से मजबूत बनाया जाता था। पत्थर की इफरात होने पर भी नीचे राजपुर-देहरादून

से खच्चरों पर ईंटें मंगवायी गयीं, दो-दो ढाई-ढाई फुट मोटी दीवारें चुनी गयीं। दो-महले ऊंचाई के एकमहले मकान बनाये गये, यहां तक कि शयन-कक्ष और ड्राइंग-रूम भी हाल जैसे बना दिये गये।

उन्नीसवीं सदी के अन्त (१६००ई०) में मई-जून नहीं बल्कि सितंबर की मसूरी में १४,६८६ निवासियों में ३४१८ यूरोपियन रहते थे। यद्यपि अब उपनिवेश का इरादा छूट गया था, किन्तु यह मसूरी की समृद्धि के चरम उत्कर्ष का समय था। सभी सड़कें, मुहल्ले, बंगले जगमग-जगमग करते थे। गोरों का प्रताप मध्यान्ह पर था, काले कितने ही भागों में रह नहीं सकते थे, बड़े बड़े हिन्दुस्तानियों को छोटे से छोटे साहब को झुक कर सलाम करना पड़ता था। मसूरी की सड़कों पर अंग्रेजी ही अग्रेजी सुनाई देती थी। मसूरी के बंगलों से पश्चिमी संगीत मुखरित होता रहता था। क्लबों और नृत्य-शालाओं में रात-रात गोरों-गोरियों के नृत्य हुआ करते थे। आज भी बूढ़े ऐंग्लो इण्डियन हैं, जो उस समय चाहे अंग्रेजी मण्डली में अछूत ही समझे जाते हों, किंतु अब कहते हैं "आः ते हि नो दिवसा गताः !" (आह ! हमारे वे दिन चले गये !)

प्रथम विश्व-युद्ध से मसूरी में साढ़े साती सनीचर सवार हुआ। १६२० -२१ से ही यहां के बहुत से बंगले खाली रहने लगे और अंग्रेजोंके हाथ से निकलने भी लगे। आगे आगे कितनी ही क्लबें सुनसान रहने लगीं ! अंग्रेज आगन्तुकों की संख्या कम होने लगी। यद्यपि तब तक राजा-महा-राजाओं ने मंसूरी को गुलजार करना शुरू कर दिया था, तो भी मंसूरी की रूठी लक्ष्मी लौटने को तैयार नहीं हुई। द्वितीय विश्व-युद्ध में अवश्य टिमटिमाती बत्ती ने एक बार जोर मारा, किन्तु युद्ध समाप्त होते ही हालत बुरी हो गयी। सैकड़ों सुन्दर बंगले सूने पड़े रहते हैं। मिट्टी के मोल भी उन्हें कोई पूछता नहीं। वर्षों से उनमें मरम्मत तक नहीं हुई, और यदि आज भी वह खड़े हैं, तो अपनी मजबूत नींव के सहारे ही। व्यापारी, होटल-मालिक, बैंक-प्रबन्धक सभी किस्मत को रो रहे

हैं। कुछ तो कहते हैं, उत्तर-प्रदेश की सरकार ने शराब-बन्दी करके मंसूरी की रौनक मार दी। सैलानी उच्च और मध्यम वर्ग के लोग यहा तपस्या करने नही आते।

व्यापार की मन्दी के मारे दुकानदार किराया कम कराने के लिये सत्याग्रह कर रहे हैं, और उधर सुन्दर बंगले और कोठियां सैकड़ों की संख्या में ढहने को तैयार हैं। यदि आप थोडा चलने को तैयार हों, तो बहुत सस्ते किराये और दाम मे और भी सस्ती कोठियां, बंगले मिल सकते हैं। दिल्ला के कितने ही सरकारी विभागों को लाया जा सकता है। आलीशान मकान, जिन पर राष्ट्र का इतना रुपया लगा हुआ है, मुफ्त में मिलने को तैयार हैं, किन्तु कोई विभाग दिल्ली से दूर नहीं जाना चाहता। फिर दरबार में कदम-बोसी कैसे हो सकेगी? फिर अपनी तरक्की और अपने साहबजादों की नौकरी कैसे सुलभ हो सकेगी? दिल्ली की गरमी में झुलसना मंजूर है, कार्यालयों और कर्मियों के लिये मकानों की कठिनाई भी सिर आंखों पर रखने को तैयार है, किन्तु दिल्ली के देवताओं का कोई अनुचर काला पानी जाने को तैयार नहीं है। मन्त्रियों को हिम्मत नहीं, कि डांट कर उन्हें यहाँ आने के लिये मजबूर करें।

गंधर्व-नगरी

लेकिन मसूरी पर अब भी प्रकृति का वरद हस्त है। अब भी वह अक्षत-यौवना है। देहरादून से रात्रि को मसूरी गन्धर्व-नगरी सी मालूम होती है, और मसूरी से देहरादून में सदा दीवाली मनायी जाती दीख पड़ती है। चांदनी रात में हिम-शिखर सुन्दर मालूम होते हैं। उससे भी अनुपम सौन्दर्य उनका सबेरे शाम देखने को मिलता है, जब कि सूर्य की किरणें उन्हें सुवर्ण और प्लाटिनम के ठोस शिखरों में परिणत करती हैं। पर्वतों के दृश्य तो सदा ही मोहक होते हैं। नगर के आस पास जल

गात हैं, जिनमें 'केमटी फाल' बड़े ही सुन्दर स्थान में श्वेत लंहगा पहिने किसी पर्वत सुन्दरी की भांति नृत्य करता जान पडता है। यहां वन-भोज का बड़ा आनन्द रहता है। मसूरी कम्पनी के राज्य की सौगात है! यहां का कम्पनी-बाग भी एक सुन्दर पर्वतीय उद्यान है। लाइब्रेरी बाजार मसूरी की चौरंगी (कलकत्ता) या कनाट सर्कस (दिल्ली) है। कुल्हड़ी-बाजार समीप से जहां सुन्दर दुकानों और ऊपर नीचे चढ़ती सड़कों के कारण मनोरम मालूम होता है, वहां दूर से और भी आकर्षक है।

मसूरी-म्युनिसिपैलिटी (नगरपालिका) की सीमा से ही जमुना का देश (जौनपुर और जौनसार) आरम्भ हो जाता है। जमुना के तट पर 'कृष्ण और गोपियों की रास' ऐतिहासिक तौर से जब शुरू हुयी, उससे शताब्दियों पहिले से जौनसार अपने रास और मनोहर संगीत के लिये प्रसिद्ध है। जौनसारी तरुणी ही नहीं, जौनसारी प्रौढ़ा भी नृत्य-संगीत के लिये उतनी ही मुक्त और उत्सुक दीख पड़ती हैं।

मसूरी 'पर्वतों की रानी' सदा बनी रहेगी इसमें सन्देह नहीं। साढ़े साती सनीचर इस सौन्दर्य की देवी को सदा दिक नहीं कर सकता।

राजस्थान का अभ्युदय

भारत ने अंग्रेजों का जूआ फेंक दिया। राजस्थान तो दो जूओं के नीचे कराह रहा था, एक ओर अंग्रेजी शासन की राहु-छाया सारे भारत की तरह राजस्थान के ऊपर भी थी, और दूसरी ओर अंग्रेजों ने यहां के निरंकुश सामन्तों को सब तरह के शोषण और उत्पीड़न के लिए अकेला छोड़ दिया था। वह जाते वक्त भी राजस्थानी जनता को मुक्त होने देना नहीं चाहते थे, इसलिए उन्होंने यहाँ का सर्व-प्रभुत्व राजाओं के हाथ में देकर भारत से प्रस्थान किया था। ट्रावनकोर, हैदराबाद आदि की तरह यहां के भी कुछ राजा अपने को स्वतन्त्र घोषित कर रहे थे। लेकिन इन्होंने तथा इनके आका अंग्रेजों ने राजस्थानी जनता को नहीं गिना था। वह नहीं समझ सकते थे कि जनता ने अपनी छाती पर डेढ़ शताब्दियों तक जो निरंकुश सामन्तों को कोदों दलने दिया था, वह अंग्रेजी दुःशासन के कारण ही। शालिग्राम को भून खाने वाली जनता के लिए यह बेंगन कोई चीज नहीं थे। जल्दी ही गुड़िया राजाओं को पता लग गया कि यदि उन्होंने फिर अपनी निरंकुशता को कायम रखना चाहा, तो राजस्थान की एक-एक अंगुल जमीन में बिजौलिया विद्रोह खड़े हो जायेंगे, जिनका मुकाबला उनके वश की बात नहीं होगी। सारी जनता का कोपभाजन बनकर केवल अपने कामदारों और चाटुदारों के बल पर वह अपने अस्तित्व को कायम नहीं रख सकते। कांग्रेसी नेता मौके-बेमौके राजाओं के बलिदान और स्वार्थत्याग की प्रशंसा करते नहीं थकते। कहते हैं कि उन्होंने देश के स्वार्थ के सामने अपने निजी स्वार्थ को छोड़ दिया। लेकिन वह कृतघ्नता के दोष के भागी होते हैं जब रियासतों के विलय में बससे जबर्दस्त कारणभूत शक्ति जनता को भूल जाते हैं। राजा लोग कभी इस कथित स्वार्थत्याग के लिए तैयार न होते, यदि उन्हें

मालूम न होता कि विद्रोही जनता के सामने हमारी हार तो निश्चित ही है, साथ ही कांग्रेसी नेता जो उदारतापूर्वक हमें बड़ी-बड़ी पेंशनें तथा निजी सम्पत्ति कहकर भारी सम्पत्ति दे रहे हैं, उससे भी हम वंचित हो जायेंगे, हमें बाट का भिखारी बनना पड़ेगा। आज की कांग्रेस गरीबों की कांग्रेस नहीं है। वह सबसे पहले बड़े-बड़े स्वार्थों को अक्षुण्ण रखने के लिए तैयार है।

जिस जनता के त्याग और बल पर, कष्ट और यातना पर, देश स्वतन्त्र हुआ, राजस्थान दोहरे जूए से मुक्त हुआ, उसकी आर्थिक व्यवस्था दिन पर दिन गिरती जा रही है। स्कूलों और कालेजों से पढ़कर निकलने वाले तरुणों में से सौ में दस ही काम पाने की आशा रख सकते हैं, बाकी को बेकारी का मुँह देखना पड़ता है। यह अवस्था सुधरने की जगह दिन पर दिन और बिगड़ती जा रही है। हाँ, जब तक ६० फी सदी लोग आर्थिक कठिनाइयों के कारण नरक-यातना न भोगने लगें, तब तक कोई मौलिक क्रांति नहीं हो सकती, लेकिन यदि यही रफ्तार बेढंगी रही तो वह दिन भी दूर नहीं है।

राजस्थान की आर्थिक समस्यायें ऐसी नहीं है कि हल न हों और न उसके कुछ भाग में रेगिस्तान को देखकर यह कह सकते हैं कि यह एक निर्धन और अकिंचन देश है। यहां के पहाड़ी भागों में अनेक प्रकार के खनिज हैं, जिनमें से कुछ शताब्दियों तक अपनी खान के लिए मशहूर रहे। रेगिस्तान से भी सोवियत रूस ने साइन्स की सहायता से सोना उगलवाया है, वहां गन्धक, नमक और मिट्टी का तेल पैदा किया। राजस्थान की मरुभूमि के नीचे कितनी सम्पत्ति छिपी हुई है, इसका अभी पता ही कहाँ लगाया गया? यहाँ की निर्धनता आज इसीलिये है कि राजस्थान की प्राकृतिक सम्पत्ति के स्रोतों को उद्घाटित करने के लिए साइन्स और उद्योग का व्यापक प्रयोग नहीं हो रहा है। सामन्तों की निरंकुशता के कारण अंग्रेजी शासनकाल में कोई राजस्थानी सेठ अपने उद्योग-धन्धे

अपनी जन्मभूमि में बढ़ाना नहीं चाहता था। आज उस स्थिति में परिवर्तन हुआ है, लेकिन इस ओर कदम इतना धीरे-धीरे बढ़ रहा है कि वह हर साल की बढ़ती डेढ़ सैकड़ा की जनसंख्या के लिए भी पर्याप्त नहीं हो सकती।

राजस्थान के लिये एक बड़ी समस्या शिक्षा और संस्कृति में उसके अधिकांश लोगों का पिछड़ापन है। निरक्षरता या अशिक्षा कोई असाध्य व्याधि नहीं है। वह चुटकियाँ बजाते हटाई जा सकती है, यदि जरा बुद्धि और स्वतन्त्र विचार से काम लिया जाये। शिक्षा मातृभाषा द्वारा होनी चाहिए, यदि इस सिद्धांत को मान लिया जाये, तो राजस्थान से निरक्षरता दूर होने में क्या देर लग सकती है? केवल वर्ण-परिचय कितने दिनों का काम है। मातृभाषा को शिक्षा का माध्यम बना देने पर शिक्षा के लिए भाषा सीखने का सवाल ही खतम हो जाता है। हफ्ते में वर्णमाला और इसके बाद राजस्थानी भाषा में छपी पुस्तक हाथ में थमा दीजिये। प्रौढ़ों के लिये अक्षर-ज्ञान के बाद आप 'पाबू जी', 'तेजा' या 'निहाल दे' जैसे परम सरस लोक-काव्यों और लोकवार्ताओं को दे दीजिये। किसी भी आवश्यक ज्ञान-विज्ञान का प्रचार राजस्थानी भाषा द्वारा जितना जल्दी हो सकता है, उतना हिन्दी द्वारा भी नहीं। लेकिन, स्वतन्त्र भारत ने तो राजस्थान में उल्टी गंगा बहाने का प्रयत्न किया है। यहां की अदालतों में पहले हिन्दी चलती थी, लेकिन अब दूसरे प्रदेशों से जो नौकरशाह भेजे गये हैं, वे हिंदी नहीं जानते या हिंदी में लिखा-पढ़ी करना अपनी शान के खिलाफ समझते हैं, इसलिये वह कचहरियों में हिंदी को हटाकर अंग्रेजी को रखने का प्रयत्न कर रहे हैं! जनता के शासन का कितना सुन्दर उदाहरण है? क्या इससे यह नहीं मालूम होता कि हमारे यहाँ शासन जनता के लिये नहीं है, बल्कि जनता शासन के लिये है। शासन में जनता की नहीं, बल्कि शासक की सुविधा का ख्याल किया जाता है। आखिर यह अन्धेरनगरी कब तक चलती रहेगी? राजस्थानी जनता बहुत

समय तक भेड़ों की तरह नहीं चलाई जा सकती। उसके लिए सबसे पहली जरूरत है, उसकी मातृभाषा को शिक्षा का माध्यम बनाना।

प्रारम्भिक से उच्च-शिक्षा तक राजस्थानी के माध्यम बनाने में पाठ्य-ग्रंथों की तथा और दूसरी कठिनाइयाँ उपस्थित हो सकती हैं, किन्तु उसकी आवश्यकता भी नहीं है। जनसाधारण का जिस शिक्षा से अनिवार्य सम्बन्ध है, वह है चार-पाँच साल की प्रारम्भिक शिक्षा। उतनी राजस्थानी के माध्यम से हो, तो निरक्षरता दूर हो जायेगी। कृषि, दस्तकारी और दूसरे कामों के लिये जो आवश्यक शिक्षा और सूचना देनी हो, वह यदि राजस्थानी में हो जाये, तो किसान उससे पूरी तौर से फायदा उठा सकते हैं। जयपुर और जोधपुर में रेडियो-स्टेशन बनने जा रहे हैं, लेकिन इनके बनाने का उद्देश्य सामन्ती-शासन में भरित-पोषित होने वाले कलाकारों को आश्रय देना बतलाया जाता है। यदि उसका उद्देश्य इतना ही है, तो यह बड़ा महँगा सौदा है, इसमें सन्देह नहीं। कला को प्रश्रय न दिया जाय, इसे कोई नहीं कहता, लेकिन रेडियो का उपयोग, अर्थकरी शिक्षा और ज्ञान-विज्ञान के प्रसार ही में बहुत होना चाहिये। इसकी बहुत कम आशा है, यदि रेडियो की वही नीति यहाँ भी बरती गई, जैसी कि और जगहों पर देखी जाती है, अर्थात् खुशामदियों, चाटुकारों और भाई-भतीजे-भांजों में अन्धे की तरह रेवड़ियाँ बाँटना।

राजस्थान में लोक-संस्कृति और लोक-वार्ता-सम्बन्धी निधियां बड़ी मूल्यवान् और बड़े विशाल परिमाण में मिलती हैं। उनको नष्ट न होने देना बहुत आवश्यक है। "पावूजी", "तेजा", "निहालदे" जैसे अनेक अमर पंवाड़े आज भी वहां गाये जाते हैं। इनकी काव्य-श्रेष्ठता के बारे में लोग शिष्ट काव्यों से तुलना करते हैं, जो वैसा ही है, जैसे सूर्य की तुलना जुगनू से की जाय। इन जन-कवियों के करुण अंश को पढ़ते समय एक-एक पांती पर आंसू रोकना मुश्किल हो जाता है। यह निसर्ग-सुन्दर काव्य किसी अलंकार की अपेक्षा नहीं रखते, सर्वत्र रस से ओत-प्रोत हैं। अब

तक ये लोक-काव्य केवल मौखिक सुने जा सकते थे। उनको लिपिबद्ध करने में अब देरी होने का मतलब है, उनकी भाषा का बिगडना, उनके भावों में से कितनों का हाथ से निकल जाना। राजस्थान में सामन्ती-व्यवस्था ने मनुष्य को बहुत नीचे गिराया, लेकिन उसने कुछ सांस्कृतिक वस्तुओं का संरक्षण भी किया। लोक-वार्ताओं के कवि और गायक सामन्तों के यहां आश्रय पाते थे, जिसके छूटने के कारण इन निधियों के नष्ट होने का डर है। यह प्रशंसा की बात है कि राजस्थान के शिक्षितों का ध्यान इस ओर गया है, यद्यपि उनके कार्यों की मात्रा संतोषजनक नहीं कही जा सकती।

किसी देश या जाति का आर्थिक या सांस्कृतिक दृष्टि से पिछड़ापन तभी तक कायम रह सकता है, जब तक कि उसमें शिक्षा का अभाव है, उसका आर्थिक स्तर गिरा हुआ है। देश के हरेक बालक-बालिका को ६—८ साल की अनिवार्य शिक्षा दे दीजिये, और आज के क्रय-मूल्य में व्यक्ति पीछे मासिक सौ रुपये की आमदनी की व्यवस्था कर दीजिये, फिर पिछड़ापन छू-मन्तर हो जायेगा, और अछूत, दलित, निर्धन, गँवार, असंस्कृत जनता की जगह हमारे सामने सुसंस्कृत शरीर और मन के कर्मकरों का समाज उपस्थित हो जायेगा। यह काया-पलट केवल सपने की बात नहीं है, बल्कि इसी पृथ्वी पर रूस में यह काम सम्पन्न हो चुका है और चीन बड़ी द्रुतगति से इसे कर रहा है।